सर्वपल्ली राधाकृष्णन

आधुनिक युग में धर्म

आधुनिक युग में
धर्म

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

आधुनिक युग में
धर्म

भूमिका

इस समय हम इतिहास के उन महान युगों में से एक युग में हैं जब मानवता भविष्य में एक छलाँग लगा रही है और अपने राष्ट्रीय-अन्त-र्राष्ट्रीय आचरण की धुरी बदल रही है। विश्व हमारी सदी में कई प्रकार से इतना परिवर्तित हुआ है, जितना कि पिछले ५,००० वर्षों में नहीं हुआ। हम संक्रमण-काल के व्यक्तित्व हैं, जो इतिहास की एक नयी स्थिति में कार्यरत हैं। बौद्धिक परिप्रेक्ष्य की सहसा घटित व्यापकता, जीवन में बढ़ती निरपेक्षता, स्वीकृत मूल्यों का तीव्र विघटन, मनुष्यों के मस्तिष्क और हृदयों को मानवीय एकता की एक नयी धारणा के लिए तैयार कर रहे हैं जो सभी मनुष्यों के समान अधिकारों पर आधारित होगी, चाहे उनका वर्ण या वर्ग, रंग या समुदाय, जाति या धर्म कुछ भी हो। दर्शन, राजनीति और कला की परम्परागत धारणाओं के टूटने से जो खतरा उपस्थित हुआ है, उसका सामना करना है, उसे समझना और नियन्त्रित करना है। बेकली के स्वर, निराशा के चिह्न, जिन्हें हम समूचे विश्व में देख रहे हैं, वे जीवन के दृष्टिकोणों में और व्यवहार में एक आमूल परिवर्तन की माँग कर रहे हैं, जिससे कि मनुष्य में निहित गरिमा और आदमी के भाईचारे को पहचाना जा सके।

चारों ओर फैले मानसिक सन्ताप की जड़ों को शून्य के स्नायविक-दौर्बल्य में ढूंढ़ा जा सकता है, विश्व को केवल राजनीतिक रूप में नहीं विभाजित कर रहा बल्कि भावात्मक रूप में भी विभाजित कर रहा है। हम अपने युग की सन्तान हैं, नास्तिक, अविश्वासी, शून्यवादी। आदमी के हृदय में दरार पड़ गयी है, एक आन्तरिक अव्यवस्था है, हमारे मानसिक-गठन में एक बड़ा खोट है। कहीं गहरे में हम उन धार्मिक प्रवृत्तियों के साझीदार हैं, जिन्हें हम विवेक की भूमि पर अस्वीकार करते हैं। विश्वास करने की इच्छा को विवेक की दुहाइयाँ रोकती हैं। हमें उस जीवन्त भावना को पुनः प्राप्त करना है जो विरोधियों में समझौता कराती है।

अगर हम अब तक चले आ रहे मृत रूपों को छोड़ने में और नये आदर्शों वाली संस्थाओं की रचना करने में सक्षम नहीं होते, तो हम समाप्त हो जाएँगे और एक और ही प्राणी का रूप धारण कर लेंगे, क्योंकि धरती आदमी की आत्म-विनाशक भावनाओं के बाद भी बची रहेगी। हमने एक महान सभ्यता के लिए पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है, लेकिन इसे नियन्त्रित करने और सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त बुद्धि नहीं अर्जित कर सके। उदाहरण के लिए यूनानी नगर-राज्यों ने दो हजार साल से भी ज्यादा पहले मानव जाति को इसके कुछ महानतम दार्शनिक, कलाकार और नाटककार दिये थे। वे अब भी हमारी धरोहर के एक अंग हैं, लेकिन यूनानियों की कुल प्रखरता भी उन्हें सुरक्षित नहीं रख सकी क्योंकि वे आपस में शान्ति कायम नहीं रख सके।

हमारी वैज्ञानिक और टेक्नालॉजी की उपलब्धियाँ सन्देहास्पद हैं। हम सितारों को छूने और चाँद पर पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं, फिर भी हम प्रभु-सत्ता-सम्पन्न राज्यों के बीच स्थापित सम्बन्धों का पल्ला पकड़ रहे हैं, जो अणु-युग में विनाश की ओर ले जाएगा। यह एक निराशाजनक स्थिति है, जिसमें देश काफी कुछ अपने भरोसे खड़े हुए मालूम पड़ते हैं, उस पर जिसे इतिहास का निर्णायक मोड़ कहेंगे, जिसमें या तो समग्र विनाश छिपा है या फिर एक नया प्रारम्भ। अब हमें प्रखरता से अधिक साहस और अनुशासन की आवश्यकता है। अगर मानवीय समाज की रक्षा करनी है तो मानव-व्यक्तित्व का नवीकरण करना होगा। हमें आधुनिक मनुष्यों के सन्देहों और असुरक्षाओं को जान लेना है, और उनके परे आशा की भूमि की ओर संकेत करना है। आदमी अपनी पहचान की, जीवन के अर्थ की और उस हार के महत्व की खोज कर रहा है, जो उसे एक ऐसे यथार्थ का पल्ला पकड़ने से मिलती है, जो उसके हाथों टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। हमारे जीवन और साहित्य, सभी लोगों की, सभी देशों की, दुःख, विनाश और ध्वंस की कहानियों से भरे पड़े हैं। ध्वंस ऐसे मानवीय अपराध का परिणाम है जो इतना बेहूदा है कि महानतम कला भी उसके साथ न्याय नहीं कर सकती। हमारी पीढ़ी का अधिकतर साहित्य सन्देह और घबराहट के एक ऐसे वातावरण की रचना करता है, जिसमें जीवन के बड़े लक्ष्यों की स्वीकृति नहीं होती और जिससे लोगों के आत्मविश्वास को चोट पहुँचती है। अपनी शक्ति और टेक्नालॉजी की समृद्धि के शिखर पर, हम असुरक्षा के सबसे गहरे

क्षणों का अनुभव कर रहे हैं। विज्ञान और टेक्नालॉजी में अपनी सभी प्रगतियों के बावजूद हम आज जितनी अर्थहीनता और निरर्थकता का अनुभव कर रहे हैं, उतना हमने पहले कभी नहीं किया। यह आशा है की जाती है कि जब ये सन्ताप का रुदन समाप्त हो जाएगा, तब ये दुःख प्रगति का आधार बनेंगे, अगर ये सार्वभौमिक शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का आधार नहीं बनेंगे तो कम-से-कम अधिक कुछ और समझ, न्याय-बोध के कुछ और मजबूत होने, करुणा के कुछ और फैलने का आधार बनेंगे। यह एक आशाजनक चिह्न है कि धर्म यह अनुभव करते हैं कि समूची मानव-जाति के प्रति उनका उत्तरदायित्व है, मात्र अपने अनुयायियों के प्रति ही नहीं।

धर्म आदमी को अनुशासित करने वाली शक्ति रहा है, लेकिन दुर्भाग्यवश बहुत से लोगों के लिए इसने अपना मूल्य और अपनी सार्थकता खो दी है। धार्मिक विश्वास की कठिनाई ही विश्व की वर्तमान दुरवस्था के लिए उत्तरदायी है। हमें एक ऐसी धार्मिक आस्था की आवश्यकता है जो विवेकशील हो, एक ऐसी आस्था जिसे हम बौद्धिक व्यक्ति निष्ठा और सौन्दर्यशास्त्रीय विश्वास के साथ अपना सकें, एक बड़ी, लचीली आस्था, समूची मानव-जाति के लिए, जिसमें प्रत्येक जीवित धर्म अपना उल्लेखनीय योगदान कर सकता हो। हमें एक ऐसी आस्था की आवश्यकता है जो समूची मानव जाति में निष्ठा रखे, इसके इस या उस टुकड़े पर नहीं, एक ऐसी आस्था, जिसका पल्ला निरपेक्ष और प्रबुद्ध मस्तिष्क सम्मुख विनाश के समय भी पकड़े रह सके।

सभी जीवित आस्थाएँ अपने बचाव के लिए चिन्तित हैं, और जीवन की नयी परिस्थितियों से अपना ताल मेल बैठा रही है। अपने स्थायी मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए, हिन्दू और बौद्ध धर्म अपने सामाजिक रुख को संशोधित कर रहे हैं। ये धर्म सदियों से इकट्ठा हुई विकृतियों को निकाल फेंकना चाहते हैं। ईसाइयत के दो प्रभुत्वशाली रूप, कैथोलिकवाद और प्रोटेस्टेंटवाद अपनी नीतियों का संशोधन और उनका पुनर्मूल्यांकन कर रहे हैं। पोप पाल चतुर्थ और कैंटरबरी के आर्कबिशप ने इस वर्ष २४ मार्च को रोम में सेंट पॉल के गिरजे में एक संयुक्त घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये हैं, जिसमें यह कहा गया है कि रोमन कैथलिक और एंग्लिकन चर्च एकता की दिशा में मिलकर काम करें। प्रेसबाई-टेरियन, मेथडिस्ट और दूसरे चर्च एक संवाद स्थापित करने में लगे

हैं। इस्लाम, जो अपने समय की बुराइयों के विरुद्ध सुधार की भावना के साथ खड़ा हुआ था, अब इस बात की जाँच कर रहा है कि क्या इसके सिद्धान्त विश्व की वर्तमान परिस्थितियों में संगत हैं। सभी धर्म इस बात पर राजी हैं कि अगर धर्म को प्रभावशाली बनना है तो उसे तर्कना-परक विचार और सामाजिक प्रगति में बाधक नहीं बनना चाहिए। उन्हें रूढ़ और अपरिवर्तनीय अस्तित्वों के रूप में, जो एक-दूसरे के विरोधी हों, नहीं देखना चाहिए, वे सभी आधुनिक जीवन के साथ ताल-मेल बैठाने के क्रान्तिकारी परिवर्तनों से गुजर रहे हैं। सभी धर्मों को सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तनों के समझने का, उनकी व्याख्या करने का, उनसे मिलाने में हमें तैयार करने का, जब समाज की माँग हो तो उनमें सुधार करने का दायित्व होना चाहिए। हम एक मृत संसार में नहीं जन्मे।

हमें मानवीय जीवन के आगामी आयामों के प्रति सचेत होना चाहिए। मनुष्य का मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्राणी-जगत् के विकास की तरह व उससे एकदम भिन्न विकसित हो रहा है। हमारे मनोजगत का विकास आगे होने वाला है।

यह पुस्तक आध्यात्मिक आस्था के विकास के लिए एक लघु प्रयास सरीखी है, वह आध्यात्मिक आस्था जो नयी विश्व-व्यवस्था का आधार बन सकती है। मैंने पुस्तक में बहुत ज्यादा तकनीकी बातें नहीं भरीं, वरन् साधारण पाठक को धर्म के बारे में जैसा मैं उसे देखता हूँ, एक ग्राह्य विवरण देने का प्रयत्न किया है। मैं आशा करता हूँ कि यह औरों के लिए भी उपयोगी होगी।

३० नवम्बर, १९६६
नयी दिल्ली

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

क्रम

आधुनिक युग में
धर्म

१

विश्व-समाज का उदय

: १ :

"धीरे-धीरे एक नये विश्व-समाज का उदय हो रहा है। यह लोगों के मस्तिष्क और मन में चुपचाप, अगोचर रूप से पनप रहा है। कोलाहल और उत्तेजना, क्रोध और हिंसा, आत्मा की कठिनाइयाँ, अभिव्यक्ति की अस्पष्टता—ये सब किसी नयी चीज़ के जन्म की प्रसव-पीड़ाएँ हैं। हमारी पीढ़ी का यह कर्तव्य है कि हममें जितनी भी शक्ति और सहनशीलता है, उसे लेकर हम इस नयी व्यवस्था के लिए काम करें।"[१]

केवल दो तरह के लोग सुखी और तनाव-मुक्त होते हैं—बिलकुल ही मूर्ख और वे जो अपने से ऊपर उठ जाते हैं, अपने मस्तिष्क का अतिक्रमण कर ज्ञानावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। बाकी लोग तरह-तरह के तनावों और दुखों में जीते हैं।[२]

जब धर्म-गुरु और दार्शनिक, 'मानवता एक है, सभी भाई-भाई हैं,' की बात कहते हैं तो ऐसा कहकर वे ज्ञान के एक अंश और ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित आत्मा की एक आवश्यक अभिव्यक्ति करते हैं। इस तथ्य को आज जितना स्वीकार किया जा रहा है, उतना इतिहास में पहले कभी नहीं किया गया। मनुष्य की आधारभूत शारीरिक गठन, उसकी मानसिक रुझान, उसकी नैतिक आवश्यकताएँ, उसकी आध्यात्मिक आकांक्षाएँ, दुनिया-भर में एक जैसी हैं। जन्म, विकास, बचपन और यौवन, बीमारी, बुढ़ापा और मृत्यु, प्रेम और मित्रता, दुःख और सुख का चक्र सभी मनुष्यों के लिए समान है। हम एक ही उत्स और एक ही नियति के भागीदार हैं: एकैव मनुष जाति—मानव-जाति एक है। मानवता की यह एकता मात्र मुहावरा नहीं है, न ही यह सिर्फ सपना है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य बन रहा है। संचार की गति बढ़ने के फलस्वरूप

१. जवाहरलाल नेहरू स्मृति ग्रंथ, 'द इमर्जिङ्ग वर्ल्ड' (१९६४) में पूर्व-प्रकाशित।

२. यश्च मूढतमोलोके यश्च बुद्धेः परंगतः।
तौ उभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

विचारों और यन्त्रों का स्वामी मनुष्य, मनुष्य मात्र है। ऐतिहासिक प्रक्रिया की आवश्यकताएँ दुनिया को एक कर रही हैं। हम एक नये समाज, मात्र समाज की देहरी पर खड़े हैं। जो भविष्य की समस्याओं के प्रति जागरूक हैं, वे अपने विचार और कर्म में मनुष्य जाति की एकता, आदर्श को अपना पथ-दर्शक सिद्धान्त बनाते हैं।

: २ :

पिछली शताब्दियों में हमारे पास दुनिया के बारे में एक सीमित दृष्टिकोण—एशिया, यूरोप और अफ्रीका का था। इन बड़े महाद्वीपों में से कोई भी समूची दुनिया नहीं है। वे एक-दूसरे के निकट आए हैं और एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते। पुरातत्त्व और नृतत्त्वशास्त्र ने उस महान, प्राचीन उपलब्धिशील कला को उजागर किया है जो सौंदर्य और संश्लिष्टि की कला थी, फिर भी एशियाई, यूरोपीय तथा अफ्रीकी परम्परा की धारा से अलग रही। इतिहासकारों द्वारा सत्य प्रतीत होने वाले कुछ ऐसे साधारणीकरण किये जाते हैं जो काफ़ी भ्रामक होते हैं। हेगेल अपने, 'लेक्चर्स ऑन द फिलासफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री' (इतिहास-दर्शन पर व्याख्यान) में कहता है कि "फारस प्रकाश की भूमि है, यूनान गरिमा की भूमि है, भारत स्वप्न की भूमि है, रोम साम्राज्य की भूमि है।"[1]

यह बात सभी संस्कृतियों के लिए सही है कि उच्चतर जीवन का स्वप्न, जीवन का सबसे बड़ा उपहार है। पूर्णता की खोज मनुष्य-जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। मनुष्य मूलतः पुनर्रचयिता है। वह पुरानी पद्धतियों से कभी संतुष्ट नहीं होता।

पूर्व और पश्चिम शब्द आपेक्षिक हैं। ये भौगोलिक अभिव्यक्तियाँ हैं और सांस्कृतिक ढाँचों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। चीन, जापान और भारत जैसे देशों के बीच के अन्तर उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि यूरोपीय और अमरीकी देशों के बीच के। भिन्न विश्वासों और व्यवहारों के साथ सांस्कृतिक ढाँचों का विकास अलग-अलग रूपों में, एक-दूसरे के आपेक्षिक अलगत्व में हुआ। कई बार, ऐसा समय आया जब चीन और भारत सांस्कृतिक गतिविधियों में आगे थे, दूसरे देश तो तब अग्रणी हुए जब पश्चिमी देश विस्तार की भावना से भर गए। पिछली तीन शताब्दियों से, वैज्ञानिक विकास के बल पर, पश्चिमी देश पूर्व पर प्रभावी रहे हैं। पिछली तीन शताब्दियों के वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास ने न सिर्फ़ पूर्व और पश्चिम के बीच एक बड़ी खाई

१. साइब्री द्वारा अंग्रेजी अनुवाद (१८६१) से।

बना दी है, बल्कि वर्तमान पश्चिमी सभ्यता और उसके अतीत के बीच भी।

हाल के विकासों ने यह भ्रम पैदा किया है कि अगर पश्चिम दृष्टिकोण में वैज्ञानिक है तो पूर्व आध्यात्मिक। एक के लिए यह कहा जाता है कि वह तर्कनापरक है जबकि दूसरे को धार्मिक माना जाता है। पहले को गत्यात्मक और निरन्तर परिवर्तनशील माना जाता है जबकि दूसरे को स्थैतिक और अपरिवर्तनशील समझा जाता है। अगर हम थोड़ा व्यापक ढंग से विचार करें तो हम पाएँगे कि चीन और भारत ने विज्ञान और औद्योगिकी में तीन-चार सौ साल पहले तक मौलिक योगदान किया है और पश्चिम में धार्मिक ज्ञान और पवित्रता के कई उल्लेखनीय उदाहरण हुए हैं। जितना ही हम एक-दूसरे को समझते हैं, उतना ही हम यह महसूस करते हैं कि हम एक-दूसरे की तरह हैं। पूर्व और पश्चिम दो अलग तरह की चेतना और विचार-रीतियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

विज्ञान और धर्म हर संस्कृति के अंग हैं। तर्कनापरकता और आध्यात्मिकता ये मनुष्य के स्वभाव में इस तरह बुनी गई दो रस्सियाँ हैं जो अलग नहीं की जा सकतीं। यों इनकी बुनावट कई प्रकार की है। मानव-इतिहास में इनमें से कोई एक अलग-अलग समय में ज़्यादा प्रमुख हो सकती है।

मनुष्य-जाति मूल रूप से एक है और किन्हीं गहरे मूल्यों से बँधी है। इसके बीच के अन्तर, जो निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण हैं, बाहरी और अस्थायी हैं तथा सामाजिक स्थितियों के कारण हैं। और उन्हीं के अनुसार बदलते रहने वाले हैं।

: ३ :

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों, निराशाओं और आपसी निन्दा के बावजूद, विश्व एक हो रहा है। विज्ञान कोई बाधा नहीं मानता। कला और संस्कृति सामान्य 'सम्पत्ति' बन रही हैं। मानव-समुदायों का पृथक् अस्तित्व पुरानी बात हो गई है। अब कुछ घण्टों में ही दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर में पहुँचा जा सकता है। रेडियो, टेलिविज़न और समाचार-पत्र, दूसरे देशों में घट रही घटनाओं की जानकारी रखने में हमारी मदद करते हैं। भौतिक 'सीमाएँ' टूट गई हैं, बौद्धिक आदान-प्रदान और आध्यात्मिक सम्पर्क के लिए रास्ता तैयार हो रहा है। सुदूर के राज्य, निकट के पड़ोसी बन गये हैं और एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज बनने की संभावना है।

विभिन्न देशों के आर्थिक सम्बन्धों के कारण दुनिया सिकुड़ गई है। एशिया और अफ्रीका के देश उस दौर से गुज़र रहे हैं जिसे जागरण की क्रान्ति कहेंगे, जिसमें और भी अच्छे जीवन-स्तर की माँग अब तक बनी हुई है। वे

आधुनिकता की राह पर चल रहे हैं, जिसका दूसरा नाम औद्योगीकरण है। हम सभी विज्ञान की एक ही 'भाषा' का प्रयोग कर रहे हैं और औद्योगिक विकास के लिए एकसे यन्त्र काम में ला रहे हैं। फलस्वरूप हर जगह नये प्रकार के मूल्य उभर रहे हैं। इससे पहले आदमी के पास संचार के ऐसे माध्यम या एक-दूसरे पर निर्भर करने के ऐसे बंधन-सूत्र कभी नहीं थे, जिनके कारण विश्व-समुदाय सम्भव होता है। विश्व एक इकाई बन गया है और उसकी माँग है कि उसे एक इकाई माना जाए।

आज यह केवल संभव ही नहीं है, बल्कि विलक्षण शक्ति वाले आणविक अस्त्रों के विकास को नज़र में रखते हुए, ज़रूरी भी हो गया है। राज्यों के नेता, अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के विकास, अपनी अतुलनीय आणविक शक्ति और किसी भी आक्रमणकारी का धरती से नामोनिशान मिटा देने की बात कहते हैं। आणविक अस्त्रों की दौड़ अगर इस बात की ओर नहीं, तो इसकी संभावना की ओर तो संकेत करती ही है कि एक युद्ध में मनुष्य जाति का खात्मा हो जाए। सवाल इस बात का नहीं है कि सबसे ज़्यादा शक्तिशाली कौन है या अन्तर्महाद्वीपीय अस्त्रों में कौन आगे है, सवाल इस बात का है कि चाहे जो कोई सबसे ज़्यादा शक्तिशाली हो, आणविक युद्ध होने पर बचेगा कोई भी नहीं। ऐसा मानकर चलना, एक खतरनाक भ्रम को पालना है कि जिसके पास ये हथियार हैं, वे इनका उपयोग कर खुद तो बच जाएँगे। सैन्य अजेयता जैसी कोई चीज़ नहीं होती। आणविक युद्ध का मतलब होगा सबका विनाश। सभी देशों का भाग्य अभिन्न रूप से एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। या तो हम एक साथ रहेंगे या एक साथ मरेंगे। या तो एक समाज बनेगा या फिर कोई समाज शेष नहीं रहेगा।

: ४ :

धरती से मानवीय अभियान के अन्त की संभावना पर हमें सोचना होगा। इस तरह की चुनौती के सामने जाति और धर्म, वर्ग या रंग, राष्ट्र या सिद्धान्त के हमारे विवाद अप्रासंगिक और निराधार हैं। हमें कोई ऐसा यथार्थ रास्ता ढूंढ़ निकालना होगा जिससे कि मानवता स्वयं अपने विनाश का कारण न बने।

व्यग्रता में जकड़े हुए विश्व की जो वर्तमान अवस्था है, उसमें हमारे लिए यह ज़रूरी है कि हम शीघ्रता के साथ नये यथार्थों का सामना करें और विनाश के नये अस्त्रों के उपयोग को रोकने के तरीके अपनाएँ। हमें एक नयी उदारता अपनानी होगी, रचनात्मक ग्राह्यता की नई शक्तियाँ पैदा करनी होंगी।

सैन्यवाद और राष्ट्रवाद पुराने पड़ गये हैं, निरर्थक हो गये हैं। हेराक्लीट्स ने युद्ध को सभी तरह के परिवर्तनों का जनक कहा था। शताब्दियों से युद्ध का इस्तेमाल अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने के लिए किया जाता रहा है। इस बात के भयानक परिणाम हुए हैं। इसने कई सभ्यताओं को पूरा-का-पूरा मिटा दिया है, कितने ही लोगों की बलि दे दी है। नये अस्त्रों ने युद्ध की प्रकृति में आमूल परिवर्तन कर डाले हैं और इसके परिणामों की भयानकता कई गुना बढ़ गयी है। अगर आपसी समझौता नहीं होता, अगर आपस में विश्वास स्थापित नहीं होता, अगर हथियारों की यह घातक दौड़ चलती रहती है, तो हम एक संकटपूर्ण वातावरण में पलते रहेंगे और हम सब पर मृत्यु की छाया मँडराती रहेगी। आज के युग में युद्ध का अर्थ मनुष्य का बचाव न होकर उसका आत्मघात है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के तरीके के रूप में युद्ध का परित्याग करना पड़ेगा। शान्ति के लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

मनुष्य जाति के उथल-पुथल से भरे इतिहास में, जीवन के अपने अलग-अलग तौर-तरीके बनाए रखने के लिए हम बार-बार लड़े हैं। मानव-विकास के वर्तमान स्तर पर अपने अलग तौर-तरीकों से चिपके रहने की बात राष्ट्रों ने अपना ली है। राष्ट्रवाद, स्वार्थपरता का सामूहिक रूप है। हर जाति, हर पंथ, हर राष्ट्र अपने को ईश्वर द्वारा चुना हुआ, भविष्य का नेता और मानव-जाति का शिक्षक मानता है। हर राष्ट्र अपनी संस्कृति और जीवन-पद्धति के बारे में यह मानकर चलता है कि हमीं सही हैं और अगर जान-बूझकर नहीं तो अनजाने ही अपनी भावनाओं के लिए तरह-तरह के तर्क ढूंढ़ निकालता है। और इन्हीं तर्कों के आधार पर उन सबके बारे में एक आक्रामकता अपना लेता है जो उसकी पद्धति को नहीं मानते और जिनके तौर-तरीके दूसरे हैं। हम जिस चीज़ को नहीं समझते उसका मज़ाक उड़ाते हैं, और जिसे नहीं पहचान पाते उसे अस्वीकार कर देते हैं। क्या पूर्व और क्या पश्चिम में, राष्ट्रीय अहं सभी राष्ट्रों के चरित्र में है। यूनानियों ने जिस महान् सभ्यता का विकास किया, उसे उन्होंने राज्यों[1] के प्रति अपने तीव्र और उग्र लगाव के कारण बरबाद कर दिया। ला फोन्टेन ने स्पेनी और फ्रांसीसियों के राष्ट्रीय अहं में इस तरह अन्तर किया कि "हमारा अहं कहीं ज़्यादा मूर्खतापूर्ण है और उनका कहीं ज़्यादा पागलपन से भरा हुआ।" एक फ्रांसीसी ने कहा कि अंग्रेज़ी भी फ्रांसीसी ही है जो ग़लत लिखी और ग़लत उच्चारित की जाती है। जब राष्ट्रीय नेता, आधुनिक तकनालॉजी के रेडियो, टेलिविज़न जैसे उपकरणों का उपयोग करते

१. टिबुलुस : "रोम, तुम्हारे नाम की नियति है पृथ्वी पर प्रभुत्व।"

हैं तब वे अपनी जनता से ऐसी बातें कहते हैं कि वे हार के द्वारा अपमानित हुए हैं, कि वे अपने पड़ोसी देशों द्वारा धमकाए जा रहे हैं, कि उन्हें अगर ज़रूरत आ पड़े तो अपनी मातृभूमि के लिए या अपने सैद्धान्तिक ढाँचे के लिए सब-कुछ करना चाहिए, मौका आने पर प्राण भी दे देने चाहिए। इस तरह लोगों को बाँटने वाली दीवारें और मज़बूत होती हैं।

अतीत की भूलों को बढ़ा-चढ़ाकर बताने में और पुरानी कटुता को बनाए रखने के मामले में साहित्यिकों की ज़िम्मेवारी बहुत बड़ी होती है। वे झूठी बातों की याद दिलाकर राष्ट्रों को उन्मत्त कर देते हैं, और उनमें एक प्रकार की अलौकिक नियति का भाव भरते हैं। व्यक्ति-रूप में तो हम दूसरों की बात समझने वाले, विनम्र, उदार और दूसरों के प्रशंसक होते हैं, लेकिन इस या उस राज्य के सदस्य के रूप में हम कटु, अहंकारी, दंभी और यहाँ तक कि असहनीय हो जाते हैं।

आज के युग में, जब हमने अन्तरिक्ष पर विजय प्राप्त कर ली है और ध्वनि से भी ज़्यादा तेज़ी से उड़ सकते हैं, तब राष्ट्र-राज्य बहुत संकीर्ण मालूम पड़ते हैं। गांधीजी जब हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए लड़ रहे थे तब भी उन्होंने राष्ट्रवाद के प्रतिक्रियावादी चरित्र से आगाह किया था। उन्होंने कहा था, "झुका और दबा हुआ हिन्दुस्तान न तो अपनी सहायता कर सकता है, न दुनिया की। मैं चाहता हूँ कि मेरा देश स्वतन्त्र हो, जिससे कि एक दिन, ज़रूरत पड़ने पर, वह मानवता को जीवित रखने के लिए मर सके।" आत्म-त्याग में ही हम अपने को दृढ़ बनाते हैं। राष्ट्र भी व्यक्तियों की तरह संचय करके नहीं बल्कि त्याग करके महान् होते हैं।

राष्ट्र अमर नहीं हैं। वे इस गृह के स्थायी स्वामी नहीं हैं। वे इसके अस्थायी किरायेदार हैं। अगर वे नैतिक नियमों में बँधकर रहेंगे तो ज़्यादा समय तक जीवित रहेंगे। अगर लोगों के मन लोभी बने रहते हैं तो वह समय दूर नहीं जब राष्ट्रों को बुरे दिन देखने पड़ेंगे। राष्ट्रों का लक्ष्य स्थायित्व का होता है। किन्तु हम जानते हैं कि सभी महान् समाज ख़त्म होने पर भी विरासत में कलाकौशल, विचार और आदर्श अपने पीछे छोड़ जाते रहे हैं, जिनके आधार पर हम आज भी बहुत-सी चीज़ों की रचना करते हैं। कोई भी समाज बेकार नहीं मरता। सभी जीवित चीज़ें मरती हैं, लेकिन मृत्यु के बीच से जीवन आता है।

गांधीजी हमसे यह अपेक्षा रखते थे कि अन्तरात्मा की आवाज़ के पवित्र नियम के प्रति आस्थावान रहें, जिसे आदमियों ने नहीं बनाया, लेकिन जो

अलिखित होकर भी लिखित कानूनों से किसी तरह कम नहीं है, यह युगों से बनाए गये सभी आचरणों-नियमों का उत्स रहा है। यही नैतिक-नियम मानव-परिवार के सदस्यों को बांधकर रखता है, और उन्हें सम्पूर्ण मानव-परिवार की सुरक्षा और सुख के प्रति एक नये दायित्व का बोध कराता है। स्वानुभूत होकर ही हम दूसरों के हितों को सबसे अच्छी तरह पूरा कर पाते हैं। राष्ट्रों की निर्भरता एक-दूसरे पर इतनी बढ़ गई है कि अगर कोई भी राष्ट्र घायल होता है तो बाकी को भी चोटें ज़रूर आती हैं। राष्ट्र अब द्वीप नहीं हैं, सीमाएँ अपना महत्त्व खो रही हैं।

सह-अस्तित्व में विश्वास का कारण तात्कालिक लाभ या कमज़ोरी नहीं है। पृथकत्व, असहिष्णुता, ग़लतफ़हमी से छुटकारा पाने का यह एकमात्र उपाय है। अब अपने-आपमें बन्द' समाजों का अस्तित्व नहीं है। हम जिस नयी व्यवस्था की खोज कर रहे हैं वह न तो राष्ट्रीय है और न महाद्वीपीय। यह न तो पूर्वी है न पश्चिमी। यह सार्वभौमिक है। हमें ऐसी दृष्टि विकसित करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि हमारा राष्ट्र, कई राष्ट्रों में से एक है, और इनमें से हरएक विश्व की सम्पन्नता और विविधता में अपना ख़ास योगदान करता है। कोई जाति या राष्ट्र-भर ही मानवता नहीं है, बल्कि मानवता तो पूरी मनुष्य जाति है, जो हम ऐसी आशा करते हैं कि परस्पर सहयोग के उद्देश्य से निकट आ रही है। युद्ध कई शताब्दियों से हमारे साथ लगा रहा है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि वह बराबर हमारे साथ लगा रहेगा।[१]

---

१. कुछ साल पहले तत्कालीन सोवियत प्रधानमंत्री ख़ुश्चेव ने बुखारेस्ट में कहा था कि "लेनिन की यह युक्ति कि 'पूँजीवादी और समाजवादी वर्गों के बीच युद्ध अवश्यम्भावी है', वर्तमान आणविक युग में पुरानी पड़ गई है। साम्यवादी लोग यथार्थवादी हैं और वे महसूस करते हैं कि वर्तमान स्थिति में विश्व की दो व्यवस्थाओं के बीच संबंध इस तरह स्थापित किये जाने चाहिए जिससे कि युद्ध की संभावना दूर हो।" उन्होंने आगे कहा था, "युद्ध को रोकने के लिए भी—स्थानिक युद्ध को भी क्योंकि वह विश्व-युद्ध में बदल सकता है—सभी लोगों को अपनी सरकारों पर यह दबाव डालना चाहिए, उन्हें इस बात के लिए बाध्य करना चाहिए कि वे अलग-अलग समाज-व्यवस्थाओं वाले देशों के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में रहने के सिद्धान्त को मानें। "श्री ख़ुश्चेव का विचार था कि पूँजीवाद और समाजवाद के बीच अवश्यम्भावी विवाद की विचार-धारणा आज कोई अर्थ नहीं रखती। बाद में लेनिन के जन्मदिन की वर्षगाँठ पर श्री ख़ुश्चेव ने कहा, "युद्ध के ख़िलाफ़ काम करने वाली जो महती शक्तियाँ उभर रही हैं उन्हें नज़रअन्दाज़ नहीं करना चाहिए।"

राष्ट्र-राज्य के पृथक्, प्रभुत्व-सम्पन्न, निरपेक्ष, स्वायत्त होने की पुरानी धारणा और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की नयी धारणा के बीच मतभेद है। हमें अगर बचना है तो साथ मिलकर काम करना होगा। अब समय आ गया है कि हम राष्ट्रीय प्रभुसत्ता और सैन्य-बल की पुरानी धारणाओं में आस्था छोड़ दें, और भविष्य के शान्ति, स्वतन्त्रता और विधिवत् न्याय के आदर्शों की प्राप्ति के लिए कार्यरत हों। इतिहास एक ऐसा मार्ग है जिसके महत्त्वपूर्ण नाकों पर राहें बदलती हैं।

: ५ :

मानव-विकास के विगत इतिहास से यह आशा बँधती है कि कुशल योजना और सजग प्रयत्नों से हम धीरे-धीरे विवादों को सुलझाने के सैन्य-शक्ति के तरीके से मुक्ति पा सकते हैं। आम तौर से राष्ट्र के भीतर हम अपने अधिकारों के लिए बल-प्रयोग नहीं करते। हमने क़ानून का शासन स्थापित किया है और हम अपने विवादों को क़ानून से या दूसरे शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाना पसंद करते हैं।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने हाथ में क़ानून ले लेने का लोभ करते हैं और हम उन्हें ग़ैर-क़ानूनी हिंसा से रोकने के लिए पुलिस-शक्ति का प्रयोग करते हैं। इससे यह होता है कि कोई अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए बल-प्रयोग नहीं कर पाता। राष्ट्र के अन्दर, हमारे पास क़ानूनी शासन, न्यायिक ढाँचा और पुलिस-बल होता है।

हम मानव-कल्याण की ऐसी स्थितियाँ भी पैदा करते हैं, जिनके कारण अशान्ति, अव्यवस्था और विग्रह को बढ़ावा नहीं मिल पाता। राष्ट्र के भीतर के क़ानूनों का उल्लंघन तभी होता है, जब उचित महत्त्वाकांक्षाएँ खण्डित की जाती हैं, जब क्लेश बढ़ जाता है और भविष्य रुका हुआ मालूम पड़ने लगता है। जब लोगों के दल-के-दल यह महसूस करने लगते हैं कि अच्छी तरह जीने का सुयोग बाकी नहीं रहा, तब वे स्थापित व्यवस्था के प्रति विद्रोह करते हैं। सामाजिक भावावेग, मानवीय लगाव और सहानुभूति राष्ट्र के अन्दर काम करते रहते हैं और समाज के भीतर स्वस्थ वातावरण बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं।

एक राष्ट्र के सदस्य कुछ आदर्शों और लक्ष्यों के भागीदार होते हैं और मिलकर पूरे समुदाय के कल्याण के लिए काम करते हैं। राष्ट्र, कुछ खास कामों को सम्पन्न करने के लिए लोगों का आकस्मिक साहचर्य नहीं है। यह एक महत्त्व-पूर्ण संघ है। राष्ट्रीयता का बोध, जाति, भाषा, या धर्म से नहीं आता, बल्कि राष्ट्र के सदस्यों द्वारा स्वीकृत पारम्परिक मूल्यों से आता है। उनमें अपरिभाषित

दायित्वों और 'अमूर्त' मूल्यों के प्रति आदर-भाव होता है।

अगर एक हितकारी राज्य के भीतर की शर्तों का विस्तार विश्व-स्तर पर किया जाता है तो हमें राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के थोड़े-बहुत त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए, और विवादों को सुलझाने वाले शान्तिपूर्ण तरीकों को स्वीकार करने के लिए भी तत्पर रहना चाहिए। इसके लिए हिंसा से बचना होगा, रहन-सहन के अच्छे स्तर के लिए न्यूनतम आर्थिक सुरक्षा का प्रबन्ध करना होगा, राजनीतिक दबावों और जातीय अत्याचारों से पीड़ित बड़े समुदायों की शिकायतों को दूर करना होगा और आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित एक नैतिक समुदाय का विकास करना होगा। विश्व-नागरिक के अधिकारों और कर्तव्यों का सही बोध आज आवश्यक हो गया है। हमें विश्व को, उसकी मानसिक-शारीरिक घबराहट से मुक्ति दिलानी है, और राष्ट्रीय जन को अन्तर्राष्ट्रीय जन में ढालना है।

एक अधिकारपूर्ण विश्व-व्यवस्था की ओर संयुक्त राष्ट्र संघ पहला कदम है। इसके पास क़ानूनी शासन को लागू करने की शक्ति नहीं है। कुछ मौक़ों पर इसने सैन्य-बल का प्रयोग किया है। निःशस्त्रीकरण, निरीक्षण और नियंत्रण की चर्चा है। शीत-युद्ध : यूरोप, एशिया और अफ्रीका में दो शक्तिशाली गुटों के आमने-सामने होने का परिणाम है। अगर शीत-युद्ध को ख़त्म होना है तो गुटों को प्रतिस्पर्धी शस्त्रीकरण को जड़ से ख़त्म करना पड़ेगा। अगर दोनों पक्ष एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर अस्त्र-शस्त्र ईजाद करने में अपना सारा समय लगाएँगे और एक-दूसरे को शंका और घृणा की दृष्टि से देखते रहेंगे, तो युद्ध अवश्यम्भावी हो जाएगा। जिस तरह कि राष्ट्रीय कल्याण के लिए राष्ट्र हमसे बल-प्रयोग के व्यक्तिगत अधिकार को छोड़ने की माँग करता है, उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की यह माँग है कि राष्ट्र, एक-दूसरे के खिलाफ़ शक्ति-प्रयोग के निजी अधिकार का समर्पण कर दें। हमें यह प्रयास करना चाहिए कि राष्ट्रों के हाथ से हथियार लेकर अन्तर्राष्ट्रीय भण्डार में जमा कर दिए जाएँ। सिर्फ़ स्थानिक पुलिस-बल को छोड़कर विश्व के हथियार एक अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकारी के हाथों में होने चाहिए। हमें एक अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-संहिता की आवश्यकता है जो बिना किसी भेद-भाव के लागू की जानी चाहिए। यह सब-कुछ तभी संभव है जब एक साथ, समान और नियन्त्रित निःशस्त्रीकरण हो और एक समानान्तर अंतर्राष्ट्रीय पुलिस-शक्ति खड़ी की जाए।

अगर पूरे और विश्व-व्यापी निःशस्त्रीकरण का समझौता हो जाता है तो इससे जो धनराशि बचेगी उसका उपयोग अविकसित देशों को काफ़ी मात्रा में

सहायता देने के लिए किया जा सकता है। विश्व-स्वास्थ्य-संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ और अन्न और कृषि-संघ तथा ऐसी दूसरी संस्थाएँ इस बात की कोशिश कर रही हैं कि दुनिया के देशों के बीच रहन-सहन और अवसर की जो असमानताएँ हैं उन्हें दूर किया जाए। वे इस बात को स्वीकार करती हैं कि जाति, संस्कृति और राष्ट्रीयता के बावजूद सारी मानवता के लिए आर्थिक समस्याएँ एक-सी हैं। भूख किसी राष्ट्रीयता को नहीं जानती। निराशा किन्हीं खास लोगों की चीज़ नहीं है। विश्व के साधनों का विकास समूची मानव-जाति के लिए किया जाना चाहिए। अब यह बात और ज़्यादा स्वीकार की जा रही है कि जो साधन-सम्पन्न देश हैं, उन पर कम साधन वाले देशों को ऊपर उठाने की ज़िम्मेवारी है। शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जबकि दुनिया के लोग, शस्त्रीकरण, भूख, गरीबी, रोग और निराशा से छुटकारा पा जाएँ।

उपनिवेशवाद और जातीय भेद-भाव को प्रमुख विवादों का कारण माना गया है, और ज़रूरत इस बात की है कि इनका सफ़ाया किया जाए। इस बात की व्यवस्था की जानी चाहिए कि पिछड़े देशों की राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक दृढ़ता की दिशा में शान्तिपूर्ण ढंग से परिवर्तन हों।

राष्ट्र को अपना मानने की प्रवृत्ति समान स्मृतियों, आशाओं, एक-से ऐतिहासिक अनुभवों और एक ही कलात्मक और सांस्कृतिक धरोहर के साझीदार होने की भावना से आती है। अगर 'एक विश्व' की सदस्यता विकसित करनी है तो पूर्व-पश्चिम को समझने जैसी प्रायोजनाएँ और सहयोग हमें उस सांस्कृतिक-धन और ज्ञान को पाने में सहायक होंगे, जिसके कि हम सब उत्तराधिकारी हैं। जब दुष्टतापूर्ण ग़लतफ़हमी अपना काम कर रही हो तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम देशों के बीच रचनात्मक समझ के लिए काम करें।

यह काम विश्व के नेताओं का है कि वे यह निर्धारित करें कि हमें मिले शक्ति और संचार के साधनों का उपयोग विश्व के लोगों के आपसी सहयोग और मित्रता के लिए किस तरह किया जा सकता है। बिना सांस्कृतिक स्तर पर उतरे कोई राजनीतिक समझ स्थायी नहीं हो सकती। अपने आन्तरिक महत्त्व के साथ ही, ऐसी समझ मानवीय अनुभव को समृद्ध करने में अपना योगदान करती है। विज्ञान और उद्योग, शिक्षा और संस्कृति हमें भौतिक और बौद्धिक स्तरों पर मिला रही हैं। हमें मानवता को सिर्फ़ एक संगठन के रूप में नहीं बल्कि एक जीवित रचना के रूप में देखने की ज़रूरत है, जो भीतर-ही-भीतर उन मूल्यों से संग्रथित है, जिन्हें हम मानवीय गौरव और स्वतन्त्रता से अलग नहीं कर सकते। ऐसे विश्व में, जिसके मान निर्धारित होते जा रहे हों, संस्कृतियों

का वैविध्य सौन्दर्य और रचनात्मकता लाता है।

यह यूनेस्को जैसे संगठनों का काम है कि वे समझ और भिन्नताओं के प्रति आदर भावना के द्वारा लोगों के मन में व्यापक, मानवीय दृष्टि का विकास करें और शान्ति की दिशा में विश्व-व्यापी सजगता और सहयोग को बढ़ाएँ।

विश्व-समुदाय के पास विज्ञान, तक्नालाजी, अर्थ-व्यवस्थाएँ और राजनीतिक रूपरेखाएँ उभयनिष्ठ होंगी, लेकिन यह विश्व के भिन्न जनों को अपने स्थानिक रिवाजों, कलाओं और साहित्य का विकास करने में मदद देगा। ये नयी सभ्यता को एकरसता और ऊब से बचाएँगे। भिन्नता समुदाय का एक आवश्यक तत्त्व है।

हम मानव-इतिहास के एक बहुत ही उत्तेजनापूर्ण युग के द्वार पर खड़े हैं। आधुनिक विज्ञान और तक्नालाजी, आधुनिक युग के आश्वासन और विनाश से भरे हैं। हमारे सामने खुली हुई संभावनाएँ अद्वितीय हैं। वैज्ञानिक विकास ने हमारे हाथ में ऐसे यन्त्र और औज़ार दिये हैं कि हम सबके लिए अच्छे जीवन की व्यवस्था कर सकते हैं। शक्ति के नये स्रोत, कृषि, उद्योग और यातायात के बदलने के काम में लाए जा सकते हैं। आणबिक शक्ति के उपयोग द्वारा हम विश्व-भर के लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठा सकते हैं। हम समुद्रों में जाल बिछा सकते हैं, पत्थरों को पिघला सकते हैं, रेगिस्तानों को हरा-भरा बना सकते हैं और सबके लिए काफ़ी मात्रा में उत्पादन कर सकते हैं।

संचार-व्यवस्थाओं ने मानव-हृदयों के समागम की नई संभावनाओं के द्वार खोल दिए हैं। सभ्यताएँ आपस में मिलती हैं, एक-दूसरे का सामना करती हैं, एक-दूसरे को रचनात्मक बनाती हैं, एक-दूसरे को प्रकाशित करती हैं। सभ्यता के महत्त्वपूर्ण तत्त्व—प्रार्थना और पूजा, अध्ययन और पांडित्य, दृष्टि और समझ, सौन्दर्य और कला—उतने ही यथार्थ और प्रभावी हैं जितने कि सन्देह और ईर्ष्या, घृणा और शत्रुता। हमें उन अवसरों को हाथ से न जाने देना चाहिए जो हमें प्राप्त हुए हैं और उन्हें स्थिर ऐतिहासिक स्थितियों के अंध-प्रेम में ठुकरा न देना चाहिए। हमें पुरानी मूर्ति-पूजा—अंध-भक्ति—से मुक्त हो जाना चाहिए और एक नैतिक समुदाय के बोध का विकास करना चाहिए और ऐसी संस्थाएँ बनानी चाहिए जो हमारे उभय लक्ष्यों को अभिव्यक्त कर सकें।

मनुष्य-जाति कसौटी पर है। विभिन्न जीवन-पद्धतियों के तीव्र मतभेदों और भविष्य के प्रति बढ़ती चिन्ता के आज के दिनों में, हमें मनुष्य जाति की उच्चतम आकांक्षाओं को, तनावों को कम करने के लिए जगाना पड़ेगा, और एक-दूसरे की जीवन-पद्धति के प्रति समझ पैदा करनी होगी।

जिन संकटपूर्ण दिनों में हम रह रहे हैं, उनके बावजूद, मनुष्य अपने को, अपने से ऊपर उठा सकता है, जीवन में रुकावट पैदा करने वाली परिस्थितियों पर विजय पा सकता है। जानते हुए भी, उस बात पर विश्वास करते जाना, जिसे आत्मा ग़लत कहती है—यही मनुष्य-जीवन के दुःख का कारण है। कोई भी आरोपित सुधार समस्या की तह तक नहीं पहुँच सकता। मनुष्य की आत्मा को नयी स्थितियों के सत्य की ओर मोड़ना है। हमें मनुष्यों की आत्माओं के साथ श्रम करना पड़ेगा। बेहतरी व्यक्ति के साथ शुरू होनी चाहिए। हमें इस बात की तत्परता प्रकट करनी चाहिए कि हम विश्वास और मित्रतापूर्वक साथ रह सकते हैं। हमें यह धारणा पक्की कर लेनी चाहिए कि ईश्वर की अनुकम्पा केवल किसी जाति, पंथ या देश-विशेष पर नहीं है और अगर हम अच्छा आचरण करेंगे तो हमें उसका आशीर्वाद प्राप्त होगा। ज़रूरत इस बात की है कि हृदय-परिवर्तन हो। और धर्म इस मामले में प्रभावी हो सकता है।

नये विश्व की, एक विश्व की, रचना में भौतिक साधनों या बौद्धिक शक्तियों का अभाव बाधक नहीं है, बाधक तो वे विकृतियाँ हैं जो लालच, अहं, पद तथा सम्मान की होड़ से पैदा होती हैं।

हम इस बात पर विश्वास करते हैं कि हमारी जीवन-पद्धति ही सही है और उसी की जीत होगी। अपनी उद्देश्य-प्राप्ति के लिए हम अपने दल के आचरण की उन सभी बातों को माफ़ कर देते हैं, जो क्रूर और अन्यायपूर्ण होती हैं। हम उन चीज़ों से ऊपर उठने की कोशिश नहीं करते, जिनके बारे में हम यह जानते हैं या महसूस करते हैं कि वे बुरी हैं। यह सोचना ग़लत है कि एक राष्ट्र के कार्यों को नैतिकता के मापदण्डों से नहीं मापना चाहिए। जनमत तेज और सफल तभी होता है जब वह एक दल के रूप में कार्य करता है। जर्मन लेखक हरडर ने अपनी केन्द्रीय आस्था को इन चमत्कारपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है : "अपने देश की वृथा-स्तुति आत्मश्लाघा का मूर्खतम रूप है। राष्ट्र एक जंगली बग़ीचे की तरह होता है, जिसमें अच्छे और बुरे पौधे साथ-साथ उगते हैं, जिसमें दोष और अज्ञानता, गुणों और योग्यता के साथ संयुक्त हो जाते हैं। कौन-सा डॉन-क्विकज़ोट ऐसे डलसीनों के लिए अपना भाला तोड़ेगा !"

हममें अपने परिवार, शहर और भाषा के प्रति एक भोला लगाव हो सकता है, लेकिन उग्र राष्ट्रवाद हर हालत में निन्दनीय है और युद्ध को तो अपराध ही कहेंगे।

राष्ट्रों का अहं ही उन्हें विनाश की ओर ले गया है। बड़प्पन और

क्षुद्रता, उदारता और तुच्छता, भद्रता और क्रोध, साहस और कायरता—की मानवीय प्रवृत्तियाँ परस्पर-विरोधी होती हैं। मनुष्य में इतना दम्भ और इतनी अज्ञानता होती है कि वह अपने को जान नहीं पाता। वह इतना आत्मरत होता है कि दूसरों के जिन दोषों को सहन भी नहीं कर पाता, उन्हें अपने में बनाए रखता है। मूर्खतावश, देवता तक दम्भ में झगड़ते हैं। बढ़ते हुए तनाव, कलुष, अंधे और अनियन्त्रित क्षोभ के परिणाम हैं। खतरे का अपना एक तीव्र सम्मोहन होता है। यह स्थिति ऊँचाई के भय की मानसिक स्थिति जैसी ही है, जिसमें नीचे कूद जाने की इच्छा, गहराई की भयानकता के कारण और भी तीव्र हो जाती है। जब हम आणविक अस्त्रों की होड़ के बारे में सोचते हैं तो ऐसा अनुभव करते हैं, जैसे हम जीवन को खत्म करने की एक आत्मघाती तैयारी कर रहे हों—दुनिया को जीर्ण-शीर्ण कर देने की तैयारी।

मानव-जीवन का चरित्र दोमुँहा होता है। मनुष्य के बारे में कहा जाता है कि वह "ईश्वर से कुछ कम है" और यह भी कि 'वह एक खत्म हो जाने वाला पशु है।' ये परस्पर-विरोधी वर्णन स्तोत्रों में मिलते हैं। एक स्तोत्रकार का कहना है :

> **"तुमने उसे ईश्वर से कुछ कम बनाया है,**
> **और किया है उसका अभिषेक महिमा-सम्मान से।"**

दूसरा कहता है :

> **"मनुष्य रह नहीं सकता है अपने वैभव में,**
> **है वह उस पशु की तरह जो समाप्त हो जाता है।"**

मनुष्य दोनों ही हैं—आत्मकेन्द्रित प्राणी, ईश्वर से थोड़ा कम, और मनुष्य रूपी पशु, जो पशु की तरह ही खत्म हो जाता है। वह प्रकृति की ममत्वहीन और उपेक्षा करने वाली शक्तियों के हाथ में एक दुर्बल प्राणी है। वह ऐसा प्राणी भी है जिसके पास अद्वितीय क्षमता और गरिमा है। अब वह विभाजित व्यक्तित्व है। स्नायविक तनाव एक भीतरी कमज़ोरी है—अपने साथ ही झगड़ते रहने की स्थिति। हर व्यक्ति दो व्यक्तियों से मिलकर बना लगता है, जो परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हों। फास्ट कहता है : "आह, मेरी छाती में दो आत्माएँ अलग-अलग घर बनाये हुए हैं।" फ्रायड दो सहज-प्रवृत्तियों की बात कहता है : "बहुत-से सन्देहों और हिचकिचाहटों के बाद हमने यह तय किया है कि दो सहज-प्रवृत्तियों को मानकर चला जाए; 'ईरोस' और 'विनाशक सहज-प्रवृत्ति' इन दोनों सहज या मूल प्रवृत्तियों में से पहली मूल-प्रवृत्ति का उद्देश्य बड़ी एकताओं को स्थापित करना, उन्हें बनाए रखना और इस

तरह, संक्षेप में, उन्हें बांधना है। इसके विपरीत दूसरी का उद्देश्य जोड़ों को तोड़ना और इस तरह चीज़ों को नष्ट करना है......इसी कारण हम इसे मृत्यु-मोह (Death instinct) भी कहते हैं।[1]

जीवन अच्छे और बुरे के बीच लगातार एक संघर्ष है। जब हम बुराई को नज़रअन्दाज़ करते हैं तब हमारे मन, आधारहीन, आशावाद और जब अच्छाई को नज़रअन्दाज़ करते हैं तब निरुद्देश्य निराशा के बीच झूलते रहते हैं। सबसे कठिन समस्या आत्म-नियन्त्रण की है। विज्ञान ने हमें मानवेतर प्रकृति के ऊपर गहरा नियन्त्रण दिया है, लेकिन विज्ञान हमें अपनी ही प्रकृति को नियन्त्रित करने में सहायक नहीं होता। जब तक कि मनुष्य अपनी वृहदकाय औद्योगिक हैसियत के अनुपात में अपने आध्यात्मिक चरित्र का विकास नहीं कर लेता, तब तक भविष्य बराबर खतरे में रहेगा। मानवता की महती समस्याएँ साधारण कानूनों के द्वारा नहीं, सिर्फ़ व्यक्तियों के दृष्टिकोण की पुनर्रचना द्वारा सुलझाई जा सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह कोशिश करनी चाहिए कि वह अपने भीतर की पुरानी व्यवस्था को उतार फेंके। हरएक के नवीकरण की ज़रूरत है। मानवीय श्रद्धा की हर विजय और आध्यात्मिक शक्ति हमारी दुनिया को एक और उच्च स्तर तक ले जाती है, और इसे स्वतन्त्रता और एकता के लक्ष्य के निकट लाती है। मनुष्य की धर्म-यात्रा तब तक नहीं रुकेगी जब तक कि मनुष्यों के जीवन में न्याय और प्रेम का आधिपत्य नहीं हो जाता।

मानव-स्थिति को बदलना है। पुरानी संस्थाओं के घावों की मरहम-पट्टी करने में अपनी शक्ति नष्ट करने की अपेक्षा हमें अपने भीतर परिवर्तन करके, नयी संस्थाएँ रचनी चाहिए। मनुष्य में अपना स्वभाव बदलने की जो क्षमता है उसमें आज समूह के उस पर आधिपत्य के कारण पहले से कहीं ज्यादा रुकावटें हैं। आधुनिक मानव भीड़ में इस हद तक खो गया है कि उसका खोना एक रोग-ग्रस्तता है। हम जिस रोग से पीड़ित हैं, वह रोग परिवर्तन के भय का है। स्वतन्त्र चिन्तन के लिए कोई समय नहीं है। हम उन विचारों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेते हैं, जो समाज हमें देता है। हमारी राष्ट्रीयता, हमारी जाति, हमारा संघ, हमारी राजनीतिक प्रतिबद्धता जो कुछ निर्देशित करते हैं, उसे आलोचना के परे माना जाता है। इस प्रवृत्ति से सच्चाई को उतना ही नुकसान पहुँचता है, जितना कि हमारी बौद्धिक सत्यनिष्ठा को।

---

१. 'एन आउटलाइन ऑफ़ साइकोएनालिसिस', पृष्ठ ५-६ जेम्स स्ट्रैची द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद (१९४९)।

स्वीकार के ऐसे तरीकों का प्रतिरोध करके ही हम दास-प्रथा, उत्पीड़न और दूसरे अमानवीय रूपों को खत्म कर सके हैं। अपनी सजगता और दूसरे मनुष्यों की हित-चिन्ता को धीमा नहीं पड़ने देना चाहिए। सभी स्थापित संस्थाओं और संघों में अविवेकी दृष्टि समान रूप से व्याप्त है। एकरूपता, विशृंखलता से ज़्यादा खतरनाक होती है। सन्देह और जिज्ञासा व्यक्ति के विकास में, स्थिर विचारों की अपेक्षा ज़्यादा सहायक होते हैं। हमें एकता, विचारों को दबाकर नहीं, विचारों के माध्यम से खोजनी चाहिए। अधिकारी वर्ग के और धुआंधार प्रचार के दबाव में हमारे लिए जीवन की समस्याओं के प्रति विचारशील दृष्टिकोण विकसित करना कठिन है।

पूर्णता की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव में निहित है। हम स्वभावतः मूल्य या अर्थ की एक उच्चतर मात्रा तक अपने को उठाना चाहते हैं। हम लोगों को विचारहीनता से जगाकर मानवता की एक नई चेतना तक ले जाना चाहते हैं। हम इतिहास बनाने वाले हैं। भले ही विनाश हमें धमका रहा हो, फिर भी हमें प्रतिरोध करना चाहिए। बजाय उनके पक्ष में रहने के जो जीवन को नष्ट करना चाहते हैं, हमें उनके पक्ष में खड़ा होना चाहिए जो जीवन को चुनते हैं। हम अतीत से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। हर सुबह एक नया जीवन लाती है और हर धड़कन में एक नया जीवन छिपा होता है।

२

धार्मिक दुरवस्था

: १ :

धर्मों ने हमें यह महसूस कराया है कि जीवन में भूख, काम और नींद की तात्कालिक आवश्यकताओं के अलावा और भी बहुत-कुछ है। वे हमारे मूल्यों के आधार बने हैं और उन्होंने हमारे स्वप्नों और हमारी आकांक्षाओं के सुमेल (harmony) में सहायता की है।

जब पहली बार धर्मों को रूप मिला तब चमत्कारों और कट्टरताओं को बिना किसी विशेष कठिनाई के स्वीकार कर लिया गया। कहा जाता है कि जिस तरह से पुरानी पौराणिक कथाएँ अंतरधान हो गईं, उसी तरह से अवैज्ञानिक कट्टरताएँ भी विलीन हो जाएँगी। चूंकि वे कठिनाई से खत्म होती हैं, इसीलिए हम सुख की साँस नहीं ले पाते। पुराने समय के लोगों की तुलना में आज के लोगों से कहीं ज़्यादा और बड़ी अपेक्षाएँ की जा रही हैं।[1]

हिन्दू और बौद्ध जैसे पूर्वी धर्म अपने विश्वासों को देखी-सुनी दत्त-सामग्री पर आधारित करते हैं और यह मानते हैं कि आदमी की प्रकृति के तर्कनापरक और आध्यात्मिक पक्षों को साथ मिलकर काम करना चाहिए। यद्यपि वे

१. वे सुगमता से मान लेते थे कि उस (ईसा) का जन्म कुँवारी माँ से हुआ था, और वह देवप्राय महानायक था। जस्टिन मार्टियर ने अपनी 'एपालोजी' में इस बात को तार्किक प्रमाण-स्वरूप रखा। 'मुक्तिदायी मनुज-देव' भी कोई अपूर्व चीज़ नहीं थी; लगभग सभी एशियाई सत्ता-प्रभु और रोमन सम्राट् दैवी पुरुष माने जाते थे। किन्तु आज कोई यह मानने को तैयार नहीं कि राजाओं के कुछ दैवी अधिकार भी होते हैं। धर्मशास्त्रों की चमत्कारी कथाएँ, जिनमें पुराने लोगों को विश्वास था, आज किसी को भी कोरी गप लगेंगी और उनसे अनास्था ही उपजेगी। किन्तु उन दिनों त्रिरूपी हर्मेस का ऐकिक व्यक्तित्व कोई ऊलजलूल बात नहीं थी, दार्शनिक सत्य था। इन बातों के आधार पर त्रिदेव (ट्रिनिटी) की धारणा बिश्वसनीय बनाई जा सकती थी। किन्तु आधुनिक व्यक्ति के लिए यह मताग्रह या तो गूढ़ रहस्य है या ऐतिहासिक अजूबा—शायद अजूबा ही।

'द कलैक्टिड वर्क्स ऑव सी० जी० युंग,' खण्ड ६, भाग २, १६५६, पृ० १७७।

चमत्कारों आदि की बात भी करते हैं, लेकिन ये उनके आन्तरिक रूप में सम्मिलित नहीं हैं।

पश्चिम में, धर्म का विकास इस बात के लिए संघर्ष करता रहा है कि वह विवेक से अपना नाता जोड़ सके। यूनानी चिन्तन को तर्क और विश्व की तर्कनापरकता पर विश्वास रहा है। यूनानी यह अनुभव करते थे कि विश्व अर्थपूर्ण है। बाद में, वैज्ञानिक विकासों ने पारस्परिक विश्वासों को हिला दिया। भूगर्भवेत्ताओं ने धरती के बनने के समय को धर्मों की तुलना में और पहले का ठहराया। ज्योतिषियों ने इस विश्वास को हिला दिया कि धरती ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। धरती ब्रह्माण्ड का केन्द्र न मानी जाकर ग्रहों के बीच एक ग्रह ठहरा दी गई। गैलीलियो ने ब्रह्माण्ड के बारे में मानव-दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया। कापरनिकस ने धर्म और विज्ञान के प्रथम प्रमुख विवाद को सामने रखा। लूथर ने कापरनिकस से हर प्रकार की असहमति ज़ाहिर की। लूथर ने कहा, "इस मूर्ख ने पूरे ज्योतिष-विज्ञान को उलट देना चाहा। लेकिन पवित्र ग्रन्थ कहते हैं कि जोशुआ ने सूर्य को स्थिर रहने का आदेश दिया था, धरती को नहीं।" धर्म-ग्रन्थों के अमिट होने की बात को कट्टरता की सीमा तक पहुँचा देने के परिणामस्वरूप काफ़ी बौद्धिक उथल-पुथल हुई और ऐसी मान्यताओं के आगे प्रश्न-चिह्न लगाये गए।

आदिम विज्ञान ब्रह्मवादी था और रेनेसाँ-काल में ब्रह्मवादी विज्ञान का एक बार और उद्धार किया गया। सत्रहवीं शताब्दी के शुरू के पचास वर्षों में तर्कनापरक दर्शन और यथार्थवादी विज्ञान की विजय हुई। डेस्कार्टेस के साथ मानवीय विवेक प्रर्वप्रमुख हो गया और दुनिया के बारे में यान्त्रिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। लैपलेस ने नैपोलियन से कहा कि उसकी व्यवस्था में ईश्वर की कल्पना की कोई ज़रूरत नहीं है। अपरिवर्तनीय और दृढ़ समझा जाने वाला पदार्थ सापेक्षता और अनिश्चितता के सिद्धान्त के अधीन शक्ति बन जाता है।

सम्बन्धों की दुनिया में ही यथार्थ की प्राप्ति होती है। मृत्यु और पाप जैसे चरम प्रश्नों (के समाधान) में इतर धारणाएँ नहीं आतीं।

ईश्वर अविश्वसनीय और अनावश्यक है और भावात्मक स्तर पर पुन-रुक्त है। अगर ईश्वर कुछ है भी तो एक खतरनाक भ्रम है जो हमें यथार्थों का सामना करने और उत्तरदायित्वों को निभाने से रोकता है। न तो वह दुखों से मुक्ति का उपाय है और न ही वह दुखों की क्षतिपूर्ति करता है, उनसे तो हमें स्वयं ही निपटना चाहिए। अधिकांश लोगों के लिए दो ही वस्तुएँ पर्याप्त होती हैं—संशयवाद और अपनी बेहतरी की तीव्र नैतिक इच्छा।

विज्ञान और धर्म की बहस, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तथ्यों के विशेष प्रश्नों तक ही सीमित नहीं है। इसे इस सामान्य विचार का भी ध्यान रखना पड़ता है कि विज्ञान ने धर्म को आज की चीज़ नहीं रहने दिया, क्योंकि विज्ञान की प्रकृति मुख्य रूप से प्रयोग-सिद्ध है, जबकि धर्म जिन यथार्थों से सम्बन्धित है वे अनुभव-क्षेत्र में क़तई नहीं आते। हमें वैज्ञानिक ज्ञान के अनुभव-सिद्ध आँकड़ों को मानना पड़ता है, अलौकिक और अनजान वस्तुओं को नहीं।

धर्म और उसके इतिहास की आलोचना और अन्य धर्मों के अध्ययन के फलस्वरूप, स्वीकृत दृष्टिकोणों के स्रोतों और प्रामाणिकता का पुनर्परीक्षण हो रहा है। कई इतिहास-आलोचक आज यह कहते हैं कि "हम ईसा के जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लगभग कुछ भी नहीं जान सकते।"[१] प्रोफ़ेसर आर० एच० लाइटफूट कहते हैं: "इससे ऐसा लगता है कि ईसा का अलौकिक रूप ही नहीं, लौकिक रूप भी हमसे बहुत-कुछ छिपा हुआ है।" प्रोफ़ेसर तिलिच का कहना है कि ईसा-विद्या (क्रिस्टोलॉजी) को मानने का मतलब अनजाने ऐतिहासिक अतीत की ओर लौटना या इतिहास के एक अज्ञेय व्यक्तित्व पर सन्देहास्पद पौराणिक कल्पनाओं को लागू करना नहीं है। कार्ल नार्थ जैसा परम्परानिष्ठ अध्यात्मवादी भी कहता है:

"ईसामसीह वस्तुत: नज़ारेथ के रब्बी भी हैं, जिनके बारे में ऐतिहासिक जानकारी पाना कठिन है। और जब यह जानकारी हमें मिल जाती है तो ऐसा लग सकता है कि अन्य किसी धर्म-संस्थापक या अपने ही धर्म के बाद वाले कई प्रतिनिधियों की तुलना में ईसामसीह साधारण व्यक्ति थे।"

एमिल ब्रूनर कहते हैं: "कार्य-कारण तर्क से आस्था यह मानकर चलती है कि इतिहास के ईसा और आस्था के ईसा एक नहीं हैं।"[२] यरुसलम में मृत्यु प्राप्त करने वाले ईसा, ठीक वही ईसामसीह नहीं रहे जो 'जीवित' हैं और 'राज्य' करते हैं।[3] डीएट्रिख़ बान होएफर कहते हैं कि चर्च को अपनी स्थिरता

१. प्रोफ़ेसर रुडोल्फ बल्टमान: देखिए, एच० जे० पैटन: 'द माडर्न प्रेडिकामेंट,' (१९५५), पृष्ठ २२७-८।

२. सत्य यह है कि ऐतिहासिक रूप में मान्य ईसा नहीं, मनुष्यों के भीतर आध्यात्मिक रूप में प्रतिष्ठित ईसा ही हमारे समय के लिए महत्त्वपूर्ण हैं और वही इसकी सहायता कर सकते हैं। ऐतिहासिक ईसा नहीं बल्कि वह भावना जो उनसे आगे जाती है और मनुष्यों की आत्माओं में नये प्रभाव और व्यवस्था के लिए प्रयास करती है, वही दुनिया पर विजय पाती है। (श्वेत्ज़र)

३. ईसा को पिता-ईश्वर के रूप में देखना बहुत बड़ी भूल होगी और चर्च ने शुरू के सभी विवादों में इस भूल को स्वीकार नहीं किया। लेकिन यह कहना भी कि पिता-

ज़रूर ही तोड़नी चाहिए। उनकी शिकायत है कि : "हमारा चर्च, इन वर्षों में सिर्फ़ अपने बचाव के लिए लड़ता रहा है, मानो उसका लक्ष्य सिर्फ़ यही हो। वह मनुष्य जाति के लिए निजी और मुक्तिदायक सन्देश का वाहक बनने में सक्षम है। इसी कारण प्रारम्भिक सन्देशों का शक्तिहीन होना ज़रूरी है। फिर भी वह दिन आएगा जब लोगों को ईश्वर का नाम इस तरह लेना पड़ेगा कि दुनिया बदल जाएगी और नयी हो उठेगी। एक बिलकुल ही नयी भाषा का जन्म होगा, जो शायद बिलकुल अधार्मिक होगी, लेकिन जो ईसा की भाषा की तरह मुक्तिदायिनी और ऊपर उठाने वाली होगी।"[1]

जो भी हो, गम्भीर शंकाओं के समय, ऐतिहासिक तथ्यों पर धर्म को आधारित नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक शोध, नये और पुराने टेस्टामेंटों के बारे में हमारी समझ में क्रान्तिकारी परिवर्तन करता रहा है। १९४७ में डेड सी के लेखों की खोज से यह बात साफ़ हो गई है कि ईसाई सिद्धान्त का विकास यहूदी पन्थ से हुआ। यहूदी धर्म के इर्द-गिर्द कई पन्थ थे। इनमें से सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थे—जैडोकाइट्स, जीलाट्स और एसेने। बहुत दिनों से यह माना जाता है कि ईसाइयत की जड़ें बाद वाले दल में रही हैं। लेकिन एसेने के बारे में हमारी जानकारी का आधार पहली सदी का इतिहासकार जोसेफ़स है। महान् धार्मिक आन्दोलन से सम्बन्धित उसके लेखन को पूरी तरह वस्तुपरक नहीं माना जा सकता। तथापि हम एसेने पन्थ के कई लक्षणों के बारे में निश्चित हो सकते हैं। इस पन्थ के अनुयायी अपनी धर्मनिष्ठा, शान्त स्वभाव और सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं और ऐश्वर्य के त्याग के लिए प्रसिद्ध थे। वे एक आदिम समुदाय के रूप में रहते थे और अपनी सम्पत्ति का समान रूप से उपयोग करते थे। वे देश में स्वतन्त्र रूप से विचरण कर सकते थे और पैलेस्तीन के इर्द-गिर्द के किसी अन्य साधारण समुदाय में अतिथि-सत्कार पा सकते थे। इसमें ज़्यादा सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि एसेने के ब्रह्मचर्य, निर्धनता और सामुदायिक साझेदारी के उपदेशों का ईसा पर काफ़ी प्रभाव पड़ा।

पहले से ही किन्हीं खास दृष्टिकोणों से प्रतिबद्ध लेखक, वर्तिलेखों (Scrolls), ईसा और आरम्भिक ईसाइयत की समान राय से मुकर सकते हैं।

ईश्वर के रूप मे नहीं, ईसा के रूप में ही वे ईसाई विश्वास के केन्द्र हैं, एक और बड़ी भूल होगी। ईसाई विश्वास का विषय ईश्वर से अलग ईसामसीह या ईश्वर और ईसामसीह नहीं है, बल्कि 'ईसामसीह में ईश्वर' है। (डी० बाइली)

१. यूनिवर्सटाज, १९५६, खण्ड ८, संख्या ३, पृष्ठ २२६।

वर्तिलेखों (Scrolls) में हम ईसा को सलीब पर लटकाए जाने का ज़िक्र पाते हैं और पर्वत पर दिये गए कुछ धर्मोपदेश भी। ओल्ड टेस्टामेंट की किताब ईसाइयत, जो पुरानी बाइबिल की किसी भी ज्ञात हिब्रू पाण्डुलिपि से हज़ार साल पुरानी है, की प्रतियों का ज़िक्र भी हम वर्तिलेखों (Scrolls) में पाते हैं। यहूदी पन्थ की कुछ ऐसी किताबें भी थीं, जो ईसाइयत की तात्कालिक पृष्ठभूमि बताती हैं।

ईसाइयत और मित्रवाद (मित्राइज़्म) में बहुत-कुछ उभयपक्षी है। समानताएँ या तो सीधे लेन-देन के, या फिर समान भारतीय पृष्ठभूमि के कारण हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आधुनिक विज्ञान और इतिहास की संश्लिष्टताओं ने एक अन्दरूनी संकट पैदा कर दिया है। ईश्वर के अस्तित्व के पारम्परिक प्रमाण, दार्शनिक तत्त्व के तथा प्राकृतिक नियमों और रूपों की ओर से दिये गए तर्क, सभी का परीक्षण एक नये बिन्दु से किया जा रहा है।

क्षमतावान, साहसिक और उन्नत विचारों के लोग पारम्परिक धर्म को स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं। यह हृदय की दुष्टता की बनिस्बत, उनकी बौद्धिक सत्यनिष्ठा की देन है। पारम्परिक दृष्टिकोणों ने अपनी प्रामाणिकता और अपना मनोवैज्ञानिक समर्थन खो दिया है।

पारम्परिक धर्म के प्रति सन्देह केवल कुछ नास्तिकों तक ही सीमित नहीं हैं, जिन्होंने अपना विश्वास खो दिया है, बल्कि ये सन्देह एक पूरी पीढ़ी के बीच व्याप्त हैं। निश्चयवादी (पाज़िटिविस्ट) आन्दोलन, धर्म के विरुद्ध वैज्ञानिक प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है।

: २ :

काम्टे ने सांस्कृतिक विकास के तीन स्तरों के अपने नियम के साथ निश्चयवाद के विचार का सूत्रपात किया : हर संस्कृति की पहली सीढ़ी आध्यात्मिक होती है, काम्टे के लिए अध्यात्म अन्धविश्वास का ही दूसरा नाम है; दूसरी सीढ़ी अध्यात्म-विद्या की है जो पुराने ईश्वरों के लिए सिद्धान्त और ताकतों की एवज़ी का काम करती है। और तीसरी सीढ़ी निश्चयवाद की है जो वैज्ञानिक ज्ञान से ताल्लुक रखती है। निश्चयवादी यह अपेक्षा करते हैं कि हम अनुभव-क्षेत्र के बाहर न जाएँ। २२ अप्रैल, १८५१ को काम्टे ने कहा, "मैं इस बारे में निश्चित हूँ कि मैं १८६० के पहले ही नात्रेदाम में निश्चयवाद का उपदेश एकमात्र पूर्ण धर्म के रूप में करूँगा।"

तर्कशास्त्रीय निश्चयवाद (पाज़िटिविज़्म) के अनुसार जब तक किसी

चीज़ को इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर न समझा जा सके तब तक वह सच्ची या अर्थपूर्ण नहीं कही जा सकती। प्राचीन ग्रीक विचार-दर्शन में प्रोतोगोरस का भी यही मत था और प्लेटो ने इसकी आलोचना की थी।

ह्यूम का मत है कि ईश्वर आत्मा, अमरता या वस्तुपरक नैतिक मानदण्डों के बारे में सच्ची या अर्थपूर्ण निश्चित घोषणाएँ नहीं की जा सकतीं। इनके बारे में विश्वासों को वह मिथ्या वादानुवाद और भ्रम कहकर नकारते हैं। उनके लिए सिर्फ़ दो तरह के वक्तव्यों का अर्थ था : (१) ऐसे वक्तव्य जिन्हें प्रयोगसिद्ध निरीक्षणों के आधार पर प्रामाणिक या अप्रामाणिक ठहराया जा सके, (२) तर्कशास्त्र और गणित के वक्तव्य जो अपनी पुनरुक्ति करते हैं। ह्यूम का कथन है : "उदाहरण के लिए हम कोई भी शास्त्र या तत्त्व-मीमांसा की कोई विचारधारा लें, और पूछें : क्या इसमें मात्रा या संख्या के बारे में किसी तरह का अमूर्त विवेक है ? क्या इसमें तथ्यपरकता और अस्तित्व के बारे में किसी तरह का प्रयोगात्मक विवेक है ? यदि उत्तर 'नहीं' में मिले, तो इसे आग में झोंक देना चाहिए। क्योंकि फिर इसमें और कुछ नहीं, मिथ्या वादानुवाद और भ्रम ही हो सकता है।"

प्रोफ़ेसर ऐयर कहते हैं : "यह हमारी ही स्थापना के आलंकारिक रूप के सिवा और क्या है कि कोई वाक्य, जो औपचारिक रूप से सच्ची या प्रयोगसिद्ध प्रस्तावना नहीं करता, उसका कोई शाब्दिक महत्त्व नहीं है ? तर्कशास्त्रीय निश्चयवाद (लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म) औपचारिक सत्यों और तथ्यात्मक वक्तव्यों पर विश्वास करता है, जहाँ तक कि वे इन्द्रिय-अनुभव द्वारा प्रामाणिक या अप्रामाणिक ठहराए जा सकते हैं। जो भी निश्चयात्मक स्वर से यह कहता है कि ईश्वर है, वह न तो एक ग़लत दावा करता है न ही ऐसी घोषणा करता है जिसके लिए प्रमाण अपर्याप्त हो। वह सिर्फ़ कुछ शब्दों का एक 'नमूना' प्रस्तुत कर रहा है, जो न तो प्रामाणिक है और न अप्रामाणिक, उसका कोई महत्त्व नहीं है। नीतिशास्त्रीय वक्तव्य भावोद्वेलक होते हैं। वे भावनाएँ पैदा करते हैं। उनका कोई अनुभव-सन्दर्भ नहीं होता।"

काण्ट, ह्यूम के दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि हम प्रतिभास-जगत् के भीतर से प्रतिभास (फिनोमिना) के कारणों की खोज नहीं कर सकते। अगर हम गोचर-जगत् के बाहर अज्ञात-जगत् में जाते हैं तो हम एक ऐसे क्षेत्र में पहुँचते हैं जहाँ नियत व्याख्याएँ लागू नहीं होतीं। 'क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीज़न' में काण्ट दृढ़ता के साथ यह कहते हैं कि इन्द्रिय-ज्ञान की सीमाएँ ही दुनिया के बारे में हमारे ज्ञान की सीमाएँ भी हैं। इसीलिए

अध्यात्म-विद्या का कोई 'विज्ञान' नहीं हो सकता। उन्हीं के शब्दों में :

"तत्त्व-मीमांसा का विज्ञान बिलकुल अकेला और काल्पनिक है, जो अनुभव को काम में नहीं लाता, और सिर्फ़ धारणाओं पर खड़ा रहता है। इसीलिए विवेक उसमें बराबर अपना ही शिष्य बना रहता है। अध्यात्म-विद्या अब तक विज्ञान के सुरक्षित पथ पर प्रवेश नहीं कर पाई। इसीलिए इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अध्यात्म-विद्या अब तक अँधेरे में टटोलती रही है, और सबसे ख़राब बात तो यह कि सिर्फ़ धारणाओं के अँधेरे में टटोलती रही है।' गोचर-क्षेत्र के बाहर के किसी अन्तिम सत्य तक पहुँचने के लिए वह विचार-प्रक्रिया का बहिष्कार करते हैं। ईश्वर, स्वतन्त्रता और अमरता उनके लिए नैतिक जीवन की स्वयंसिद्ध धारणाएँ हैं, ज्ञान की वस्तुएँ नहीं। अर्नेस्ट माख के अनुसार कांट किसी भी अवैज्ञानिक व्याख्या को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि वह अनुभव-परिधि में नहीं आती।

ह्यूम के अनुभव-सिद्धान्त के साथ आधुनिक तर्कशास्त्रीय-निश्चयवादी भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण की शैली जोड़ देते हैं। वियना स्कूल एक नया तर्कशास्त्र प्रस्तुत करता है जो अर्थपूर्ण और अर्थहीन के बीच सीमा-रेखा खींचने का प्रयास करता है, और विस्तार से अर्थपूर्ण का ढाँचा भी प्रदर्शित करता है। ईश्वर, आत्मा और अमरता से सम्बन्धित वक्तव्यों की प्रकट अर्थपूर्णता, भाषा-विज्ञान की भ्रांति से उपजती है। अध्यात्म-विद्या के सभी रूप अलाभकर कार्य कहकर पुकारे जाते हैं और धार्मिक विश्वास अनर्थक कहकर खारिज कर दिए जाते हैं, जिनके द्वारा हम ठगे जाते हैं। वियना केन्द्र के दार्शनिकों के स्थापकों में से एक रुडोल्फ कारनप ने १९३० में लिखा था : "नये तर्कशास्त्र के कठोर न्याय के सामने, पुराने अर्थ में सभी दर्शन, चाहे वे प्लेटो, टामस, एक्विनस, काण्ट, शेलिंग या हेगेल से सम्बन्धित हों या चाहे 'अस्तित्व की नई आत्मविद्या' गढ़ते हों या 'आत्मा का दर्शन'; न केवल भौतिक रूप से ग़लत ठहरते हैं, जैसा कि पहले के दार्शनिक मानते रहे हैं, बल्कि तर्कशास्त्रीय पहुँच के बाहर भी हैं और इसीलिए अर्थहीन।" तत्त्वमीमांसक दृष्टि, जीवनदर्शन, के औचित्य को अस्वीकार किया जाता है। दर्शन का इतिहास और कुछ नहीं, मानव-जाति की बौद्धिक अज्ञानता और भ्रान्तियों का लेखा-जोखा है। ज़्यादा-से-ज़्यादा, दर्शन भ्रांतियों को दूर करने का एक तरीका है। यह भाषा के तर्कशास्त्रीय ढाँचे का परीक्षण करता है, उसके कथ्य का नहीं। यह एक प्रकार का 'चिरंतन पांडित्य' है जो निश्चयात्मक घोषणाओं पर अविश्वास करता है।

दैवी कार्यों और रहस्यों की खोज में भटकने के विरुद्ध, तर्कशास्त्रीय

निश्चयवाद और भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण ने सुधारक के रूप में महत्त्वपूर्ण काम किया है। एक व्यक्ति द्वारा अनुभूत 'सत्य' यथार्थ का लेखा-जोखा नहीं देता। यह एक ससन्दर्भ स्थिति नहीं है। मानवता के इतिहास में, मनुष्यों ने अपनी जाति, वर्ग या देश की उच्चता के बारे में दृढ़तापूर्वक गर्वोक्तियाँ कीं। अनुराग-पूर्वक पोसी गई इन मान्यताओं ने अप्रामाणिक होने के बावजूद धर्म-युद्धों और जाति-संघर्षों को जन्म दिया है। इन दृष्टिकोणों में ईश्वर न सिर्फ़ विवेकरहित बल्कि क्रूर, बदला लेने वाला और असभ्य है।

: ३ :

निश्चयवादी दृष्टिकोण में जीवन का कोई अर्थ नहीं बचता और वह असमर्थित हो जाता है। हम एक कालकोठरी में क़ैद, मृत्यु और विस्मृति की प्रतीक्षा करते मालूम पड़ते हैं। अगर हमें शून्य में ख़त्म नहीं हो जाना है तो हमें आस्था के सहारे रहना पड़ेगा। कहीं का न होने, कोई बन्धन या लगाव न होने की भावना ने बहुत-से लोगों को कट्टरपंथी बना दिया है, फिर वे चाहे कितने ही बौद्धिक या अबौद्धिक क्यों न हों। प्रभुत्व के संरक्षण की चाह, हमें अपने लिए ख़ुद कुछ सोचने से मुक्ति दिला देती है। धर्मपरायणता उनके लिए शरण-स्थल बन जाती है जो अविश्वसनीय में भी विश्वास करना चाहते हैं। लेकिन प्रभुत्व के आश्रय में जाकर हम सोचने के नैतिक कर्तव्य को नज़रअन्दाज़ कर देते हैं।

जूलिअन द पैगन ने कहा था :

"मनुष्य को विवेक द्वारा दीक्षित और विजित किया जाना चाहिए, मार, अपमान या मृत्यु-दंड द्वारा नहीं। जो लोग सर्वप्रमुख महत्त्वपूर्ण मामलों में ग़लत हैं वे घृणा के नहीं दया के पात्र हैं। हम बलिवेदी पर किसी को अनिच्छापूर्वक ले जाया जाना नहीं चाहते।"[१]

धर्म के आध्यात्मिक अभियान के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट ऐसे विश्वास हैं जो यह दावा करते हैं कि यह अंतिम हल प्रस्तावित करता है। आध्यात्मिक बोध को बचाए रखकर और आपत्ति के समय रोगियों और कष्ट उठाने वालों को धर्म ने सहायता देकर मानवता की जो सेवाएँ की हैं उन्हें अस्वीकार करना अन्याय होगा। ये उस निरंकुश प्रभुत्व की तुलना में नगण्य हैं जो अपने दावे को मनवाने के प्रयास में दंड, यातना, यहाँ तक कि मृत्यु-दण्ड का सहारा लेता है।

वैटिकन के अखबार 'ल' आसर्बेतोर रोमानो' ने प्रजातन्त्रवादी इटालवी

१. बोस्तिआ के प्रजाजनों के लिए राजा जूलिअन की घोषणा, ३६२ ई०।

ईसाइयों को मार्क्सवादी गुटों के साथ होने के खिलाफ़ चेतावनी देते हुए लिखा :

"चर्च को सभी अनुयायियों पर सच्चे न्याय का पूरा अधिकार है और इसीलिए उनके मार्गदर्शन का और विचारों तथा कार्यों के धरातल पर उन्हें निर्देशित और ठीक करने का, कर्तव्य और अधिकार भी उसका है। कोई कैथलिक चर्च के उपदेशों और निर्देशों में कभी काट-छाँट नहीं कर सकता। धर्मशासन के कानूनों, पूर्व-स्थिति और निर्देशों द्वारा उसकी गतिविधियों के हर वृत्तखण्ड में हमें उसके निजी और सार्वजनिक आचरण को प्रेरित करना ही है।"

इस तरह का दृष्टिकोण अन्तर्विवेक और धार्मिक स्वतन्त्रता से मेल नहीं खाता। धर्म अपने संगठनों की प्रभुसत्ता का झण्डा ऊँचा करके लोगों का व्यक्तित्व खत्म करना चाहते हैं, उनके नैतिक दायित्व बोध में मिलावट करते हैं, और समुदाय के अन्तर्विवेक को भ्रष्ट करते हैं।

प्रभुसत्ता द्वारा लादा गया सिद्धान्त मानवीय आकांक्षा और विकास के आड़े आता है। धर्मों के द्वारा अपना अनुयायी बनाने के जो तरीके इस्तेमाल किए जाते हैं वे एकदलीय पद्धति के होते हैं, जो हमें पूरे आश्वासन देने का दावा करते हैं। अगर हम अपने मस्तिष्क को बन्द कर लें और यह मान लें कि सत्य हमारे पास है, तो हम सत्य को कभी नहीं पा सकेंगे। कट्टरपंथी धर्म और एकदलीय पद्धतियाँ भीड़ का दिमाग़ पोसती हैं और बंद यान्त्रिक समाजों को जन्म देती हैं। वे अपने नेताओं[1] को देवता मानकर पूजती हैं और उन्हें अवतार घोषित कर देती हैं। हमारे देश में धर्म-गुरुओं को कभी-कभी देवत्व का दरजा दे दिया जाता है।

जब राष्ट्रवाद खुद में एक धर्म बन जाता है और धार्मिक नेता (धर्म-गुरु राष्ट्रीय हितों को मानवता के हितों से बड़ा मानने लगते हैं, तो धर्म अपने-

---

१. एब्राम तर्ज़ के छद्मनाम से लिखने वाला एक युवा रूसी लेखक कहता है : "लगता है स्टालिन का जन्म उसी अतिशयोक्ति के लिए हुआ था, जो उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। रहस्यात्मक, सब-कुछ जानने वाला, सर्वशक्तिमान—वह हमारे युग का एक स्मारक था, और उसके ईश्वर बनने में सिर्फ़ अमरता की कसर रह गई थी। ओह, अगर हम चतुर होते और हमने उसकी मृत्यु को चमत्कारों से घेर दिया होता! अगर हमने रेडियो पर यह घोषणा कर दी होती, कि वह मरा नहीं था, स्वर्ग चला गया था, और वह वहीं से हमें बराबर देख रहा था, चुपचाप अपनी रहस्यात्मक मूँछों के बीच से! उसके अस्थि-शेष पंगुओं और डरे हुओं का उपचार कर देते, उन्हें ठीक कर देते और सोने से पहले खिड़की पर से दिव्य क्रेमलिन के चमकते सितारों पर आँखें टिकाए, बच्चे प्रार्थना करते।

—एनकाउन्टर, जनवरी १९६०, पृ० ६५

ईसाइयों को मार्क्सवादी गुटों के साथ होने के खिलाफ़ चेतावनी देते हुए लिखा :

"चर्च को सभी अनुयायियों पर सच्चे न्याय का पूरा अधिकार है और इसीलिए उनके मार्गदर्शन का और विचारों तथा कार्यों के धरातल पर उन्हें निर्देशित और ठीक करने का, कर्तव्य और अधिकार भी उसका है। कोई कैथलिक चर्च के उपदेशों और निर्देशों में कभी काट-छाँट नहीं कर सकता। धर्म-शासन के कानूनों, पूर्व-स्थिति और निर्देशों द्वारा उसकी गतिविधियों के हर वृत्तखण्ड में हमें उसके निजी और सार्वजनिक आचरण को प्रेरित करना ही है।" इस तरह का दृष्टिकोण अन्तर्विवेक और धार्मिक स्वतन्त्रता से मेल नहीं खाता। धर्म अपने संगठनों की प्रभुसत्ता का झण्डा ऊँचा करके लोगों का व्यक्तित्व ख़त्म करना चाहते हैं, उनके नैतिक दायित्व बोध में मिलावट करते हैं, और समुदाय के अन्तर्विवेक को भ्रष्ट करते हैं।

प्रभुसत्ता द्वारा लादा गया सिद्धान्त मानवीय आकांक्षा और विकास के आड़े आता है। धर्मों के द्वारा अपना अनुयायी बनाने के जो तरीके इस्तेमाल किए जाते हैं वे एकदलीय पद्धति के होते हैं, जो हमें पूरे आश्वासन देने का दावा करते हैं। अगर हम अपने मस्तिष्क को बन्द कर लें और यह मान लें कि सत्य हमारे पास है, तो हम सत्य को कभी नहीं पा सकेंगे। कट्टरपंथी धर्म और एकदलीय पद्धतियाँ भीड़ का दिमाग़ पोसती हैं और बंद यान्त्रिक समाजों को जन्म देती हैं। वे अपने नेताओं[1] को देवता मानकर पूजती हैं और उन्हें अवतार घोषित कर देती हैं। हमारे देश में धर्म-गुरुओं को कभी-कभी देवत्व का दरजा दे दिया जाता है।

जब राष्ट्रवाद ख़ुद में एक धर्म बन जाता है और धार्मिक नेता (धर्म-गुरु राष्ट्रीय हितों को मानवता के हितों से बड़ा मानने लगते हैं, तो धर्म अपने-

---

१. एब्राम तर्ज़ के छद्मनाम से लिखने वाला एक युवा रूसी लेखक कहता है : "लगता है स्टालिन का जन्म उसी अतिशयोक्ति के लिए हुआ था, जो उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। रहस्यात्मक, सब-कुछ जानने वाला, सर्वशक्तिमान—वह हमारे युग का एक स्मारक था, और उसके ईश्वर बनने में सिर्फ़ अमरता की कसर रह गई थी। ओह, अगर हम चतुर होते और हमने उसकी मृत्यु को चमत्कारों से घेर दिया होता! अगर हमने रेडियो पर यह घोषणा कर दी होती, कि वह मरा नहीं था, स्वर्ग चला गया था, और वह कहीं से हमें बराबर देख रहा था, चुपचाप अपनी रहस्यात्मक मूँछों के बीच से! उसके अस्थि-शेष पंगुओं और डरे हुओं का उपचार कर देते, उन्हें ठीक कर देते और सोने से पहले खिड़की पर से दिव्य क्रेमलिन के चमकते सितारों पर आँखें टिकाए, बच्चे प्रार्थना करते।

—एनकाउन्टर, जनवरी १९६०, पृ० ६५

आप कमज़ोर हो जाता है। राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करने के बजाय धर्म राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास का दास हो जाता है, राष्ट्रीय मिशन का पूरक।

पिछले वर्षों में मनुष्य की प्रकृति बदतर हुई है, इसलिए नहीं कि वह नैतिक या धार्मिक रूप से बदतर है, बल्कि इसलिए कि वह व्यक्ति नहीं रह पा रहा। यान्त्रिक समाज समग्र रूप में उसे जो शक्ति प्रदान करता है वह उसके निजी यथार्थ को घटा देती है। हममें से ज्यादातर लोग भटक रहे हैं, घबराये हुए हैं, आध्यात्मिक रूप से कटे हुए हैं और पता नहीं किस चीज़ की बहुत आतुर होकर तलाश कर रहे हैं। जब तक कि यान्त्रिक समाज स्वयं आध्यात्मिक नियन्त्रण में नहीं हो जाता तब तक भविष्य अन्धकारमय है। मशीन पर अधिकार न कर पाने की असफलता ही उसके स्व-विभाजन और क्लेश की जड़ है।

ऐसे उदारमना लोग बराबर हुए हैं जिन्होंने मानवीय चेतना को बंदी बनाने वाली कट्टरताओं के आगे प्रश्न-चिह्न लगाए हैं, फिर वे चाहे राजनीति की हों या धर्म की। कार्ल मार्क्स ने मानवता की ओर से धर्म के ख़िलाफ़ विद्रोह किया। उनके अनुसार, ईश्वर के अस्तित्व का स्वीकार मनुष्य की स्वतन्त्रता और सम्मान को धक्का पहुँचाता है। वैज्ञानिक चेतना के विकास के साथ ऐसा मानने वालों की संख्या बढ़ी है।

सभ्यता के हित में स्वतन्त्र और निःस्वार्थ अन्वेषण बहुत ज़रूरी है, और कोई भी धर्म जो इसे निरुत्साहित करता है उसके बचने की कोई सम्भावना नहीं है।

: ४ :

धार्मिक नेतृत्व के नैतिक त्याग ने भी धर्म के प्रभाव को कम किया है। धार्मिक नेताओं का दुनिया पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं है या वे स्वयं इससे पृथक् हैं।

कम-से-कम सिद्धान्त रूप में धर्म हमसे संसार की मांसलता के आकर्षण और राक्षसी प्रवृत्ति को त्यागने की माँग करता है, लेकिन हमारे जीवन में शरीर-मोह अपने को स्थापित करता है, राक्षसी प्रवृत्ति अपना देय पाती है और विश्व हमसे यह अपेक्षा करता है कि हम उसमें रहकर काम करें, इसे बेहतर या बदतर बनाते हुए। धर्म-गुरुओं की चेतना भी सांसारिक होती है। यहाँ तक कि अगर हमसे जीवन के बीच से हट जाने के लिए कहा जाता है तो यह जीवन में भाग लेने और उसे सुधारने की तैयारी का ही एक रूप है। मानववाद धर्म के ख़िलाफ़ नहीं है और न धर्म स्वस्थ जीवन के बीच असंगत है।

जीवन इसलिए आवश्यक रूप से आध्यात्मिक नहीं है क्योंकि वह आदिम रूप में जिया जाता है और न ही लोग इसलिए सच्चरित्र है क्योंकि वे अभागे हैं। ऐसा मानना ग़लत है कि अशिक्षा, भुखमरी और बीमारी में सहज रूप से कोई श्रेष्ठता होती है। अज्ञान और ग़रीबी आध्यात्मिक जीवन की विशेषताएँ नहीं हैं। यह सही है कि प्रेम, भक्ति और साहस अमीरों और ग़रीबों के बीच पाए जाते हैं। लेकिन यह कोई कारण नहीं है कि हम दरिद्रता में संतुष्ट रहें। जब हम दुनिया के बड़े भागों की दरिद्रता, दैन्य और अत्याचार की ओर देखते हैं, एशिया, अफ्रीका के शहरों की सड़कों पर भूखों मरते लाखों लोगों की ओर नज़र जाती है, दुनिया के बड़े भागों में स्थित गंदी बस्तियों और हिरोशिमा, नागासाकी के प्रताड़ित निवासियों तथा यातना-शिविरों और राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा जातीय समानता के इच्छुक लोगों के क़त्लेआम की ओर ध्यान जाता है, तो हम देखते हैं कि ईश्वर को किस तरह भुला दिया गया है, धर्म का किस तरह उपहास हुआ है, प्रेम को घृणा मिली है और अच्छाई पराजित हुई है। जब हम खुली आँखों देखते हैं तो हमें इस बात का एहसास होता है कि हमारे काम-धंधे कितने खोखले हैं, हमारे उद्देश्य कितने सतही हैं। हमारा धर्म केवल एक मुखौटा, एक बहाना और एक दिखावा है। जहाँ हम प्रेम और सेवा का उपदेश देते हैं, वहीं अक्सर इन्हें नकारते हैं। जब आणविक विनाश से विश्व को ख़तरा है, जब आणविक अस्त्रों का ढेर बढ़ रहा है, जिनसे कि पूर्ण विनाश संभव है, बहुत-से धार्मिक नेता चुप हैं। आणविक अस्त्रों के उपयोग को क्षमा करके हम इस नैतिक सिद्धान्त का अतिक्रमण कर रहे हैं कि बुरी चीज़ों का उपयोग अच्छी चीज़ों की प्राप्ति के लिए भी नहीं किया जाना चाहिए।

हम एक भहराती हुई दुनिया में बिना आशा, आश्रय या प्रकाश के रह रहे हैं। हमारे नेता हमें सलाह देते हैं, लेकिन उसमें इतना ज्यादा रख-रखाव होता है कि वह शासन और अधिकार की कुरसियों पर बैठे लोगों का कोई विरोध नहीं करती। वे एक ऐसी आस्था के बारे में, जिस पर कि वे अब ख़ुद विश्वास नहीं करते, बात करते हुए लड़खड़ाते हैं। अविश्वास से भरी दुनिया में आस्था कर्म से प्रमाणित की जाती है, लेकिन कर्म दब्बू और ढीला है। कहते हैं कि लेनिन कहता था कि अगर उन्हें कोई एक दर्जन ऐसे ईसाई दिखा दे जो संत पॉल की तरह अपनी आस्था को पूरी तरह जीते हों तो वे ईसाई बन जाएँगे।

सच्चा धर्म, फिर चाहे किसी हिन्दू महात्मा का हो, जरथ्रुष्ट, बुद्ध,

ईसा, मोहम्मद या नानक का हो, हमसे यह माँग करता है कि हम घृणा और हिंसा का मुकाबला शान्ति और सम्मान के साथ करें। "जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारता है, दूसरा भी उसके सामने पेश कर दो।" हिटलर को हराने के लिए ढाई करोड़ लोग मर गए लेकिन हिटलरवाद नहीं मरा। सामूहिक चिन्तन, राष्ट्रीय अहं, जातीय हठधर्मी, अधिकार की भूख, हिंसा में आस्था—ये अभी भी मनुष्य के कार्य-व्यापारों की निर्णायक बनी हुई हैं। ये अभी नहीं मरीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि सभी देश, वे साम्यवादी हों या ग़ैर-साम्यवादी, हिंसात्मक कार्यवाही की शक्ति में अडिग आस्था रखते हैं। यहाँ तक कि जब हम राष्ट्रीय विवादों और जातीय उपद्रवों की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि दुस्साध्य समस्याओं को हिंसा की भावना हल करने की कोशिश कर रही है। अपने जीवन में हमने जो दो विश्व-युद्ध देखे उनमें सामूहिक हत्याओं, पाशविक क्रूरताओं और जान-बूझकर दी गई यातनाओं का बोलबाला रहा—इनका खुल-कर प्रयोग किया गया। धार्मिक नेता, धर्म-योद्धा बन गए और ईमानदार स्त्री-पुरुषों से उन्होंने इस बात पर विश्वास करने के लिए कहा कि उन्हें अपने पक्ष को ही समर्थन देना चाहिए, भले ही वह कितना ही खराब क्यों न हो। ऐसा भ्रम फैलाया जाता है कि हम अच्छे हैं और हमारे शत्रु दुष्ट। विश्व अपराधियों और धर्म-योद्धाओं के बीच बँटा हुआ है।[१] गांधीजी ने माध्यमों और लक्ष्य-पूर्ति की शुद्धता पर ज़ोर दिया था। धार्मिक मनुष्यों की हैसियत

१. स्पेनी गृह-युद्ध में अपनाए गए तरीकों (बंदियों की सामूहिक हत्या सहित), जिन्हें चर्च ने क्षमा कर दिया, का ज़िक्र करते हुए याक्स मारीतेंड ने लिखा है: "तरीकों की समस्या, जिस पर हम बराबर बल देते रहे हैं, सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसमें सभी नीतिशास्त्र सम्मिलित हैं, यह नीतिशास्त्र ही है। अगर ईसाइयत इसे त्यागना नहीं चाहती, तो इसी पर उसे शक्ति-प्रयोग के सिद्धान्त के विरुद्ध निश्चयात्मक स्वर में अपनी बात कहनी होगी। ईसाइयत तरीकों को अच्छा मानती है और इस बात का प्रमाण है उसकी लगातार सफलता—लेकिन मृत्यु के आधार पर!" कार्ल मार्क्स ने कहा था: "ईश्वर की कल्पना, विकृत समाज की चाभी है। इसे ज़रूर नष्ट करना चाहिए। स्वतन्त्रता, समानता और संस्कृति की सच्ची जड़ नास्तिकता है।" "धर्म सताये हुए मनुष्य की आह है, हृदयहीन दुनिया का हृदय है, उसी तरह, जैसे यह चेतनाहीन स्थिति की चेतना है। यह लोगों के लिए अफ़ीम है... मनुष्य जाति की सच्ची खुशी के लिए, सुख का भ्रम देने वाले धर्म का उन्मूलन आव-श्यक है। इसकी स्थिति के बारे में भ्रमों को छोड़ देने की माँग, उस स्थिति को त्याग देने की माँग है जिसके लिए भ्रम ज़रूरी है।" फ्रायड ने अपने 'एक भ्रम का भविष्य' में लिखा है: "जब मनुष्य को धर्म से छुटकारा मिल जाता है तब उसके सामान्य (भरा-पूरा जीवन बिताने की ज़्यादा संभावना रहती है।"

से, हम किसी भी हालत में, अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए, हाइड्रोजन बम के अनैतिक और अनाध्यात्मिक उपयोग को न्यायोचित नहीं ठहरा सकते, फिर ये लक्ष्य चाहे कितने ही अच्छे और ईमानदार क्यों न हों। फिर भी हम घृणा के एक धर्म को उचित ठहराने के लिए धर्म-ग्रंथ से उद्धरण देते हैं, जो कि उसका विरोधी होना चाहिए।[1] उदाहरण के लिए ३९ लेखों में से ३७वां लेख यह कहता है कि ईश्वर के नियम के अनुसार यह नियम-सम्मत है : "न्यायाधीशों के आदेश से शस्त्र धारण करना और युद्ध में भाग लेना।"

जो लोग निःशस्त्रीकरण और युद्धहीन विश्व की ओर से बोल रहे हैं, उन्हें यह सलाह ठोस नहीं लगेगी, जो कि ईसा के उपदेशों के बिलकुल विपरीत है। आणविक परीक्षण सभ्यता के कार्य-सम्पादन और विकास के उपयुक्त वातावरण के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं। हमें धरती, हवा, पानी का विनाश करने का, यहाँ तक कि भ्रष्ट करने का कोई अधिकार नहीं है। फ्रांसीसी नवोन्मेष के दार्शनिक ने चर्च और राज्य दोनों पर प्रहार किया। डीडेरॉट ने कहा कि "एक भी राजा या पुरोहित के जीवित रहते हुए आदमी कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकेगा।"

विश्व एक नई नैतिकता की खोज में है। मनुष्य के प्रयत्नों में केवल एक ही उद्देश्य होना चाहिए—अपने साथी, मनुष्य के लिए पूरी सेवा और प्रेम। दर्शन, बुद्धि से प्रेम है और धर्म को प्रेम की बुद्धि होना चाहिए, ऐसा

---

१. नारमन बेंटविच : 'द रिलीजियस फ़ाउंडेशन्स ऑव इंटरनेशनलिज़्म'। "ईसाई धर्म प्रायः युद्ध का कारण ज्यादा रहा है, शांति का कम। ईसाई लोगों ने ईश्वर के प्रेम की खातिर एक-दूसरे से घृणा की है।" धर्मात्मा के लिए बिस्मार्क की परिभाषा यों है :
"एक ऐसा आदमी जो धर्म की आड़ में अपने स्वार्थों की पूर्ति करता है।"
हाइने ने कविता में पादरी का वर्णन इस तरह किया है :

"मैं बुद्धिमान लोगों को जानता हूँ, मैं पाठ जानता हूँ,
मैं जानता हूँ इसके लेखक को भी,
मैं जानता हूँ कि वे छिपकर शराब पीते रहे,
और लोगों को बताते रहे कि पानी है।"

टामस हार्डी की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं :

दो हजार साल की प्रार्थना के बाद,
हम पहुँचे हैं बस जहरीली वायु तक !
(आफ़्टर टू थाउज़ैंड इयर्स ऑफ़ मास,
वी हैव गाट एज़ फ़ार एज़ पायज़न गैस)

प्रेम जो मनुष्य को दुखों से मुक्त करता है। जब बाहर-भीतर एक हो जाते हैं तो धर्म जिया गया सच हो जाता है।

यह तभी संभव है जब धर्म सिर्फ़ एक बौद्धिक-विलास न रहकर जीवन्त आस्था और परिशोधक बन जाए। महान् कैथलिक धर्मशास्त्री बरोनवान ह्यूगेल ने कहा कि सैद्धान्तिक रूप से कैथलिक जितना ज़्यादा कट्टरपंथी होता जाता है, नैतिक रूप से वह उतना ही संवेदनहीन होता जाता है।

लार्ड एकटन ने लिखा :

"हमारे आचरण की दिशा-दर्शक कोई बाहरी सत्ता नहीं है, बल्कि ईश्वर की वाणी है जो हमारी आत्माओं में बसती है।"

हम किस चीज़ में विश्वास करते हैं, इसका महत्त्व थोड़ा है, महत्त्व इस बात का होता है कि हम क्या हैं। महाभारत में व्यास कहते हैं :

"मैं हाथ उठा-उठाकर चिल्लाता रहा हूँ, लेकिन मेरी कोई नहीं सुनता। धर्म या सही आचरण से भौतिक और कलात्मक विकास होते हैं। किस कारण से वे इन्हें स्वीकार नहीं करते ?"[1]

यह धर्म का काम है कि वह दुनिया में रद्दोबदल कर दे और क्रान्तिकारी माँगें करे। अगर धार्मिक मनुष्य दलगत समस्याओं में रुचि लेते हैं, तो वे धर्म को धोखा देने के अपराधी हैं। कहा जाता है कि राजनीतिक उदारतावाद और सामाजिक नीतिशास्त्र धर्म नहीं हैं। धर्मशास्त्री धर्म की चेतना को निरपेक्ष मानवतावाद से मिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। बहुत-से धर्मशास्त्री समकालीन स्थिति और सामाजिक माँगों से अपना तालमेल बैठाने का प्रयत्न करते हैं। वे इस बात से चिन्तित हैं कि धर्म में वैयक्तिक निष्ठा और सामाजिक अनुशासन की कमी है।

: ५ :

यही नहीं, धर्मों में सार्वभौम दृष्टिकोण का अभाव है। एक ओर तो वे यह कहते हैं कि ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं, फिर चाहे उनकी जाति, मत या रंग कोई भी हो। लेकिन बहुत-से धार्मिक संगठन असह्य रूप से मनमानी करने लगे, और उन सबका तिरस्कार करने लगे जिन्होंने जीवन-पर्यन्त उनको मानते रहने की कसम नहीं खाई। धार्मिक उपद्रवों, हस्तक्षेपों और अत्याचारों ने धर्मों के इतिहास के कई पृष्ठों पर कालिख पोती है। धार्मिक नौकरशाही असह्य होती है। कई पिछड़े हुए देशों में लोग अब भी भूत-प्रेतों,

१. ऊर्ध्वबाहुर विरोम्य येषा न च कश्चित श्रृणोति मि
धर्माद्द अर्थस च कामस च सा किम अर्धम न सेव्यते।

उड़नतश्तरियों और भविष्यवक्ताओं में विश्वास करते हैं।

धर्म राष्ट्र-राज्यों की तरह व्यवहार करते हैं। बुरे नागरिकों को तो ये अच्छा मानकर स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन अच्छे पड़ोसियों को भी विरोधी समझते हैं। विभाजन और निष्कासन, असहनशीलता और मताग्रह सामान्य मानवीय सम्बन्धों के उल्लंघन हैं। अगर हम ज़मीन और अन्न के लिए लड़ें तो यह बहुत बुरी बात है। और यह तो बदतर होगा अगर हम अनजाने ही संदेहास्पद परिभाषाओं को लेकर एक-दूसरे से लड़ें। जीवन के रहस्य, हमें एक-सी नियति में बांधने की अपेक्षा हमें एक-दूसरे का विरोधी बना रहे हैं।

धर्म-गुरु अपने अनुगामियों—शिष्यों, भक्तों—को यह नहीं बताते कि जिस धर्म के बारे में उन्हें बताया जा रहा है वह कई धर्मों में से एक है, कि कुछ धर्म ज्यादा प्राचीन और संभवतः कई मामलों में उससे श्रेष्ठ हैं और यह कि यह आलोचना से परे नहीं है। हम अपने धर्म वालों को यही बताते हैं कि हमारा धर्म तर्क-शास्त्रीय दृष्टि से पूर्ण और आध्यात्मिक दृष्टि से पर्याप्त है।

इक्कीसवीं रोमन कैथलिक एक्यूमेनिकल काउंसिल ने अपने अतीत को 'काटने' में, और यह स्वीकार करने में कि इसके पहले के कुछ संतों ने मानवता पर कई बातें थोपीं, अपूर्व साहस का परिचय दिया। विलियम मैकपीस थैकरे ने लिखा : "दुष्ट, दुष्ट होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं और वे नष्ट हो जाते हैं, उनका पतन हो जाता है, और वे अपनी अवनति भोगते हैं, लेकिन उन बुराइयों को कौन गिना सकता है जो गुणी जन करते हैं!" अच्छे आदमी अपने अंदरूनी प्रकाश और 'हमीं ठीक हैं' के नाम पर जो पाप करते हैं, वे (पाप) तथाकथित पापी मनुष्यों की तुलना में बहुत बड़े होते हैं। आस्था के कई रक्षक सत्य पर आक्रमण करने वाले थे। अपने धर्म के नाम पर हमने दूसरी आस्थाओं वाले लोगों के लिए भाईचारा नकार दिया है, जबकि वे भी सत्यता के लिए 'भूखे और प्यासे' हैं।

बहुत-से आस्थाहीन धार्मिक मनुष्य अलगाव, अजनबीपन, निर्वासन, घरबार-रहित जीवन और अकेलेपन को ढोते हुए भविष्य की वाणी के लिए उत्कंठित हो रहे हैं।

: ६ :

ये कुछ कठिनाइयाँ हैं जिनका बुद्धिमान मनुष्यों को धार्मिक आस्थाओं के मामले में सामना करना पड़ता है। हम चाहे जो भी आस्था अपनाएँ, वह विज्ञान की चेतना और मानवतावाद के नीतिशास्त्र से समन्वय करने वाली होनी चाहिए। यह व्यक्ति के विकास में सहायक होनी चाहिए, बाधक नहीं।

यह आस्था नैतिक आत्म-चेतना की बढ़ती अपेक्षाओं के अनुरूप और भावना में सार्वभौमिक होना चाहिए। नैतिक रूप से त्याज्य जिन आचरणों को हम धर्म के नाम पर अपनाते हैं, उनसे धर्म की बदनामी हुई है और कई सोचने-विचारने वाले आदमी ऐसा अनुभव करते हैं कि धर्म धीरे-धीरे मरने को बाध्य है। यह खत्म हो रहा है।

हम ऐसी अवस्था की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें कोई धर्म नहीं होगा। हम पुराने भजन गा सकते हैं, पुराने मत को दुहराते रह सकते हैं, धरती पर शान्ति के लिए आन्तरिक प्रार्थना कर सकते हैं, लेकिन गहरे में कहीं शंका है, अनिश्चय की मनःस्थिति। सभी धर्मों में आमूल परिवर्तनों की एक प्रवृत्ति होती है। कैथलिक ईसाई अब पहले-जैसे नहीं होंगे, वे और ज्यादा प्रोटेस्टेंट हो रहे हैं। और प्रोटेस्टेंट यह अनुभव कर रहे हैं कि एक दूसरा धार्मिक सुधार हो सकता है।

प्रत्येक महान् सभ्यता मनुष्य के मस्तिष्क के बिखराव को संयोजित, निष्ठावान् और शुद्ध बनाने तथा समुदाय को आगे बढ़ाने का एक प्रयत्न होती है। हमारे मस्तिष्क पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी वे ग्रहणशील और उदार हैं।[1] भले ही आसमानों से ईश्वर की यश-गाथा सुनाई न दे, भले ही विराट् आकाश में शाश्वत मौन छा जाए, भले ही संसार दैवी प्रयोजन न रहकर यन्त्र-विज्ञान का अंधपूजक हो जाए—मनुष्य उन मूल्यों को बचाए रखेगा जो उसे मानवीयता के ढाँचे में रहकर धर्म के माध्यम से प्राप्त हुए हैं। सभी तरह के दुखों में एक प्रकार का सहभाव होता है। हम सभी सत्य के अन्वेषक हैं—ऐसे विद्रोही, जो चीज़ों के बन्धन, वस्तुओं, अमूर्तताओं और सिद्धान्तों से स्वतन्त्र होने की तीव्र इच्छा रखते हैं। हम उस अदेखे रहस्य की खोज में हैं जो बिखरे वर्तमान और डरावने भविष्य को धुंधले अतीत से बाँधता है।

---

1. सी० जी० युंग : "पिछले तीस वर्षों में दुनिया के सभी सभ्य देशों के लोगों ने मुझसे मशविरा लिया है। कई सौ रोगियों की मैंने चिकित्सा की है—इनमें से सबसे ज्यादा प्रोटेस्टेंट थे, कुछ कम यहूदी, और पाँच-छः कैथलिक। मेरे सभी रोगियों में, जीवन के दूसरे भाग में, यानी ३५ वर्ष से ऊपर के लोगों में, कोई भी ऐसा नहीं था, जिसकी अन्तिम उपाय के रूप में जीवन के बारे में एक धार्मिक दृष्टि-कोण ढूँढ़ने की समस्या न रही हो। आसानी से यह कहा जा सकता है कि उनमें से प्रत्येक इसीलिए बीमार हुआ क्योंकि उसने वह चीज़ खो दी थी जो हर युग के जीवित धर्म अपने अनुयायियों को देते रहे हैं और उनमें से कोई भी सचमुच तब तक अच्छा नहीं हुआ जब तक उसने जीवन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण को पुनः प्राप्त नहीं कर लिया। हाँ, इसका किसी खास मत या चर्च की सदस्यता से कोई सम्बन्ध निस्सन्देह नहीं था।" —'द कलेक्टेड वर्क्स,' खंड ११ (१९५८), पृ० ३३४

: ७ :

नीत्शे का वक्तव्य 'ईश्वर मर गया' एक नये आन्दोलन का आह्वान है। स्टेन्ढाल दृढ़तापूर्वक कहता है कि ईश्वर के लिए सिर्फ़ एक ही बात कही जा सकती है कि उसका अस्तित्व नहीं है। ईश्वर की कोई जरूरत नहीं है—न तो तारों और सूरज की व्याख्या के लिए और न ही मनुष्य की बेकली के उत्तर-स्वरूप। प्रकृति और मनुष्य के व्यवहार-सम्बन्धी वैज्ञानिक ज्ञान का विकास, मानवीय प्रगति की ऐतिहासिक समझ और तकनालाजीय संस्कृति का जाल, विशेषतया किसी दैवी कार्य की प्रस्तावना का समर्थन नहीं करते। उस समय ईश्वर कहाँ था और क्या कर रहा था जब हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिराए जा रहे थे ? क्या उस समय वह सो रहा था जब लाखों लोग, गैस चैम्बरों और यातना-शिविरों में सताए व मारे जा रहे थे ? ऐसे सवाल मनुष्य के मस्तिष्क को उद्वेलित करते हैं। ऐसा लगता है कि मनुष्य ने 'पवित्र' की अनुभूति खो दी है। हम बाहरी अंतरिक्ष में एक बड़े मानवीय अभियान में व्यस्त हैं जबकि अभी धरती मानवीय निवास के उपयुक्त नहीं हुई।

धर्मशास्त्री डीएट्रिख वॉनहोएफर ने उस विश्व के बारे में लिखा जो प्रौढ़ हो चुका है और जिसने ईश्वर की उपस्थिति को अस्वीकार कर दिया है। उसने लिखा : "यह साफ़ होता जा रहा है कि हर चीज़ बिना ईश्वर के अपना काम चला लेती है, और ठीक पहले की ही तरह। वैज्ञानिक क्षेत्र की तरह ही, मानवीय मामलों में हम सामान्यत: जिसे 'ईश्वर' कहते हैं, वह अधिकाधिक जीवन से बाहर किया जा रहा है और ज़्यादा-से-ज़्यादा उसके पैर उखड़ रहे हैं।" उसने जेल से लिखा :

"ईमानदारी यह अपेक्षा करती है कि हम इसे मानें कि हमें दुनिया में अवश्य ही इस तरह रहना है, मानो इसमें कोई ईश्वर न हो। और ठीक यही तो हम मानते हैं—ईश्वर के सामने ! ईश्वर स्वयं हमसे यह मनवाता है—ईश्वर हमसे यह जताता है कि हमें अवश्य ही उन मनुष्यों की तरह रहना चाहिए जिनका काम बिना ईश्वर के चल सकता है।[1]

हमें नैतिक और धर्मशास्त्रीय असंगति से छुटकारा पा लेना चाहिए।

प्रोफ़ेसर टामस जे० जे० एलित्ज़र और आगे बढ़कर कहते हैं :

"धर्मशास्त्र खुद यह स्वीकार करने वाला है कि हमारा समय ऐसा है, जिसमें ईश्वर मर गया है।

"पहले तो हमें अवश्य ही यह स्वीकार करना चाहिए कि हम खाली यहीं

१. न्यूयार्क टाइम्स, ६ जून, १९६६।

नहीं कहते कि आधुनिक मानव ईश्वर में विश्वास करने में अक्षम है या आधुनिक संस्कृति ईश्वर की मूर्ति पूजना नहीं चाहती, या यहाँ तक कि हम ऐसे समय में रह रहे हैं जिसमें ईश्वर ने चुप रहना श्रेयस्कर समझा है···धर्मशास्त्र के किसी वक्तव्य को, जो ईश्वर की मृत्यु की घोषणा करता है, यह ज़रूर ध्वनित करना चाहिए कि ईश्वर आस्था-जगत् में उपस्थित नहीं है···वह पूरी तरह अनुपस्थित है, वह सिर्फ़ दृश्य से छिपा हुआ नहीं है, और इसीलिए वह सचमुच मर गया है।"

और :

"निश्चित रूप से किसी भी ज़िम्मेदार व्यक्ति के लिए यह सोचना संभव नहीं है कि अब हम प्रकृति में, इतिहास में, आर्थिक या राजनीतिक क्षेत्रों में, प्रयोगशाला में या फिर किसी ऐसी चीज़ में जो सचमुच आधुनिक है, चाहे चिंतन में या अनुभव में—ईश्वर को जान सकते हैं या उसका अनुभव कर सकते हैं। हम अनुभव में ज़िधर से भी गुज़रते हैं, ईश्वर का 'छिपना' या उसका मौन ही अनुभव करते हैं।"

यह मृत्यु-पीड़ा में विश्व का रूप है, उसके 'टूटने' का नहीं, जो कि पागलपन है।

अविश्वास, जिसे बुद्धि का सतीत्व कहेंगे, विगत की आस्था के आगे प्रश्नचिह्न लगाता है और हमें आगत की आस्था के लिए तैयार करता है।[1] विश्व के पूरी तरह 'लौकिक' हो जाने के बावजूद आदमी फिर से 'पवित्र' की समझ को पकड़ सकेगा। हमें उस जीवित चेतना की ओर लौटना होगा जो परस्पर विरोधियों को मिलाती है। अगर विश्व को बचाना है तो हमें धर्म की चेतना को पुनः प्राप्त करना होगा। हमें यह विश्वास है कि हम प्रकाश की ओर बढ़ रहे हैं, जब अँधेरा गहरा होता है तो तारे चमकने लगते हैं। सभी धर्मों में आध्यात्मिक मूल्यों के पीछे मसीही विद्रोह हुए हैं। उपनिषदों के सिद्ध-पुरुष, आमॅस, निकाह और ईजाइया, बुद्ध और हिस्सा हमारे हृदय को प्रभावित करते हैं। उन्होंने पारम्परिक आस्थाओं में सुधार किये और नई शुरुआतें कीं। एक ऐसा ही आन्दोलन मनुष्यों के मस्तिष्क और हृदय में जन्म ले रहा है। हम एक नये युग की चेतना की देहरी पर खड़े हैं।

१, सांतयाना।

३

यथार्थ की खोज

: १ :

दर्शनशास्त्र एक व्यापक शब्द है जिसमें तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, सौंदर्य-शास्त्र, समाज-दर्शन और तत्त्वमीमांसा शामिल हैं। तत्त्वमीमांसा वस्तु-जगत् के मूल या अन्ततोगत्वा-स्वरूप से सम्बन्धित है। विचार-दर्शन के इतिहास में बहुत-कुछ ठोस व महत्त्वपूर्ण तत्त्व आए हैं, वे इसी आध्यात्मिक निश्चयात्मकता की खोज की वजह से हैं। तत्त्वमीमांसा के दो मुख्य क्षेत्र हैं। इनमें से एक सत्त्व-विद्या है जो अस्तित्व के ग्रीक शब्द से बनी है। यथार्थ कैसा है, जो अपने बूते पर खड़ा है, और किसी चीज़ पर आश्रित नहीं है? तत्त्वमीमांसा यथार्थ से परे जाती है। दूसरा ज्ञानमीमांसा है जो ज्ञान के ग्रीक शब्द से बना है। मनुष्य निश्चयपूर्वक क्या जान सकता है? किस तरह उसकी राय, उसके ज्ञान से भिन्न है? क्या जाना जा सकता है?

: २ :

लाटपादरी (आर्कबिशप) वेस्टकोट ने कहा था कि यूनान और भारत[1] की रुझान आध्यात्मिक है, इस रुझान का मतलब ऐसा स्वभाव है जो कि प्रकट-अस्तित्व से ही सन्तुष्ट नहीं होता, वरन् जो सोच और मनन द्वारा यह जानने की कोशिश करता है कि वस्तु-जगत् के पीछे या परे कोई व्यवस्था या क्रम और दूसरा यथार्थ है कि नहीं? और जिससे वस्तु-जगत् को एक व्यवस्था या अर्थवत्ता मिलती है।

अनुमान-प्रधान चिन्तन के इतिहास की शुरुआत ऋग्वेद और उपनिषदों

---

१. स्वर्गीय प्रोफ़ेसर एफ़० डब्ल्यू० टामस: "मेरे ख़याल में हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दुस्तानी आदमी कुछ अपनी पुरातनता (Antiquity), कुछ अपनी सामाजिक स्थिति की जटिलताओं और साथ ही मनन के अभ्यास के कारण अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक चिन्तनशील है।

नवें अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन, त्रिवेन्द्रम १९३७ के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

से होती है, और यह जैन तथा बौद्ध चिन्तन से लेकर आज तक चला आ रहा है। और यह लाटपादरी के कथन की एक प्रभावशाली पुष्टि है।

मनुष्य को यन्त्र-निर्माता कहा जाता है। उसे शिल्प-निर्माता के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। जब उसकी ठिठुरन और भूख शान्त हो जाती है, जब उसकी क्षुधाएँ और इच्छाएँ तृप्त हो जाती हैं, तब वह यह जानना चाहता है कि क्या चीज़ों में कोई क्रम है, जीवन में कोई अर्थ है? आदमी अरूपता, अतार्किकता, अनिश्चयता और उपद्रव से डरता है। वह इनसे कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। "आनन्द और क्रोध, दुःख और प्रसन्नता, चिन्ताएँ और डर, एक-एक कर, भेष बदलकर हम तक आते हैं, जिस तरह छिद्रों से संगीत उभरता है, दलदल में कुकुरमुत्ते उगते हैं। रात-दिन वे हमारे भीतर अदल-बदल कर उतरते हैं, लेकिन हम यह नहीं जानते कि वे कैसे पनपते हैं। आह! अगर हम एक क्षण के लिए भी उनके कारण पर अँगुली रख पाते!"[1]

हम सबमें दर्शनशास्त्र के लिए ललक और तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा विद्यमान रहती है। क्या जीवन का कोई अर्थ है, क्या विश्व का कोई उद्देश्य है, क्या इतिहास हमें कहीं ले जाता है, क्या विश्व के भिन्न भाग एक-दूसरे से 'जुड़े' हुए हैं?

अध्यात्म कोई गुह्य (Esoteric) खोज नहीं है। यह एक स्वाभाविक रुझान है, चिन्तन और अस्तित्व की पूर्व-कल्पनाओं को खोजने के लिए यह मानवीय मस्तिष्क की एक आध्यात्मिक आवश्यकता है। इसका हर मननशील व्यक्ति के जीवन में एक स्थान है जो ब्रह्मांड को समझना चाहता है जिसमें वह है और एक जीवन-पद्धति की खोज करता है। ऐसी जीवन-पद्धति जो उसके और दुनिया के बीच एक सुमेल कायम करती है—वह देखी हुई चीज़ों को एक रूप देने के लिए विचार गढ़ता है, आस्थाएँ ढूँढ़ता है। अध्यात्म हमारे सारे अनुभव को व्यवस्थित करने की एक मननशील कोशिश है। यह अर्थ की खोज है।

: ३ :

कुछ दार्शनिक अपने चिन्तन में धर्म को केन्द्र बनाकर चलते हैं, कुछ अधर्म को, लेकिन जो महानतम होते हैं वे दोनों का प्रयोग करते हैं। हर दार्शनिक विश्लेषक और अस्तित्ववादी होता है। वह मूल्यों और तथ्यों, दोनों को ही व्यवहार में लाता है। वह बौद्धिक संचेतन का कवि होता है। बिना दृष्टि का विश्लेषण, बुद्धि और बारीकी का अपव्यय है। अनुशासनहीन दृष्टि, बेबुनियाद सहज-ज्ञान, मात्र उत्कंठा, अन्धविश्वास, हठधर्मी, पागलपन को जन्म

१. चुआंग से (३३५-२७५ ई० पू०)।

देते हैं। हममें झूठी आशाओं के सहारे स्वयं को छलने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, दार्शनिक विश्लेषण उसे सुधारने का काम करता है।

विश्लेषणात्मक और अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ, उपनिषदों और प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में, सुकरात और प्लेटो में, मध्ययुगीन दर्शन-शाखाओं में, तथा शंकर, स्पिनोज़ा, ब्रैडले और बर्गसाँ के दर्शन में पाई जाती हैं।

तर्कशास्त्रीय विश्लेषण और अस्तित्ववादी अनुभव के बीच बराबर एक तनाव रहता है। अपने-आपमें वही दर्शन पर्याप्त होता है, जिसमें तर्क की सत्यनिष्ठा और आन्तरिक अनुभवों का दावा होता है। महानतम दार्शनिकों में, हम तर्कशास्त्रीय कसावट और काव्य का भावावेग, दोनों ही पाते हैं।

पाश्चात्य चिन्तन से दो उदाहरण लिये जा सकते हैं, प्लेटो और कान्ट। प्लेटो का सौन्दर्य-सिद्धान्त तर्कशास्त्र पर आधारित है। जब वे सौन्दर्य-तत्त्वों का साक्ष्य देते हैं और विश्वासपूर्वक कहते हैं कि एकान्तिक सौन्दर्य और एकान्तिक न्याय मात्र धारणाएँ नहीं हैं और एक दूसरी दुनिया में उनका अस्तित्व है, जब वह बोध की दुनिया को दूसरी दुनिया के अधीन बताते हैं तो वे आर्फियस और पिथागोरस के दृष्टिकोणों से प्रभावित मालूम पड़ते हैं। जो कुछ पहले से है वह प्रकृति का अतिक्रमण नहीं करता, लेकिन यह जो अभिलाषा जगाता है, वह करती है।

प्लेटो में अलगाव और असम्पृक्तता का गहरा बोध और एक दूसरे लोक का 'आभास' था। मृत्यु अन्त नहीं है। एक दूसरी दुनिया है, जहाँ पर आत्मा जन्म के पहले और मृत्यु के बाद, निवास करती है। इस दृष्टिकोण का आधार तर्कशास्त्र या ज्ञानमीमांसा नहीं है, बल्कि मनुष्य और उसके आचरण का अध्ययन है। थिआटेटस[1] में सुकरात आदमी को 'क्षमतानुसार भरसक ईश्वर की तरह बनने' की सलाह देता है। हम कमी महसूस करते हैं, सुख का अभाव अनुभव करते हैं। हमें अपनी वर्तमान अवस्था से ऊपर उठना है। आदमी, जिस तरह वह अभी है, अपूर्ण है।

कांट ने ज्ञान और विज्ञान को प्रतिभास विश्व के बीच घेर दिया। लेकिन विश्व-प्रकृति के अध्ययन से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह पूरा यथार्थ नहीं है, और कई अतीन्द्रिय इकाइयाँ हैं जो अपने-आपमें वस्तुएँ हैं। विवेक, आत्मा, विश्व की पूर्णता और ईश्वर से सम्बन्धित कल्पनाएँ हैं। इन कल्पनाओं से मेल खाने वाले यथार्थों की व्याख्या पदार्थों के रूप में नहीं की जा सकती। उनका कोई विधानात्मक उपयोग न होकर सिर्फ़ व्यवस्थात्मक उपयोग

१. पृष्ठ १७६।

है। वे हमारे अनुभव को संगठित करने और अनका मूल्य निर्धारित करने में हमारी मदद करते हैं। विज्ञान की खोज एक आस्था, एक आशा और एक विश्वास पर आश्रित है—विवेक की अपनी आस्था पर या विश्व की तर्कना-परकता पर।

नैतिक प्रतिनिधि के रूप में हमारे स्वभाव का परीक्षण, कांट को कल्पनाओं को समृद्ध और गहरे अर्थ देने का मौक़ा देता है। कर्तव्य की वात ऐसे यथार्थ का सार्थक उदाहरण है, जिसकी ओर विवेक के विचार संकेत करते हैं; यथार्थ, जिसका एक निश्चित सन्दर्भ है, लेकिन जो अनुभव के सन्दर्भ में किसी भी अर्थ में एक पदार्थ नहीं है। कांट के अनुसार ऊपर के तारों-भरे स्वर्ग के ध्यान के साथ हमारे भीतर का नैतिक नियम शामिल होना चाहिए।

भारतीय चिन्तन में अस्तित्ववादी पीड़ा और तर्कनापरक ध्यान, दोनों ही हैं। भारतीय चिन्तन का मुख्य ध्येय, मनुष्य के स्तर और उसके अन्तिम लक्ष्य का पता लगाना है। मनुष्य के अस्तित्व की सुरक्षा और उसकी मानसिक शान्ति के लिए, प्रकृति और ईश्वर को सहायक के रूप में गिना जाता है। भारतीय चिन्तन की मुख्य रुचि व्यावहारिक है। दर्शन जीवन का दिशा-निर्देशक है।

बहुत-से लोग ऐसा मानते हैं कि दरिद्रता और अभाव के खत्म हो जाने पर और एक न्याय-प्रिय समाज-व्यवस्था बन जाने पर, इस भू-स्वर्ग में, अनजाने को जानने की अतृप्त चाह खत्म हो जाएगी। कार्ल मार्क्स का यह विश्वास था कि एक बार जब साम्यवाद पूरी तरह स्थापित हो जाएगा और समाज के साथ मनुष्य का विवेकपूर्ण और सुबोध रिश्ता क़ायम हो जाएगा, तो मनुष्य के मन में धर्म का कोई स्थान न रह जाएगा। कठोपनिषद् में नचिकेतस् कहते हैं: "मनुष्य धन से सन्तुष्ट नहीं हो सकता।"[१] हम धन से तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकते, जब तक कि सब-कुछ को आत्मसात कर जाने वाले समय का शासन है। हमारे पास चाहे दुनिया का सारा धन हो, लेकिन हम फिर भी दुखी रहेंगे, क्योंकि आदमी सनातन जीवन की इच्छा करता है, जिसे कोई भी राजनीतिक योजना या आर्थिक व्यवस्था सन्तुष्ट नहीं कर सकती। जो चीज़ें खत्म हो जाती हैं उनमें सन्तोष नहीं ढूंढ़ा जा सकता।

: ४ :

आध्यात्मिक खोज, यथार्थ-विश्व के साथ मनुष्य के असन्तोष से शुरू होती है। खगोल-विद्या, भूगर्भ-विद्या, मानव-पूर्व, और मानव का इतिहास,

१. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।

निर्माण और विनाश की निरुद्देश्य प्रक्रिया मालूम पड़ता है, जिससे व्यक्ति के निजी अस्तित्व का कोई अर्थ ढूंढ़ना सम्भव नहीं लगता। दुनिया बेहद सुन्दर और बेहद खाली लगती है। हम मनुष्य के अस्तित्व की पूरी कड़ी, जो समय में अभियान में मनुष्य की अर्थवान् सक्रियता माँगती है, से किसी सिद्धान्त का निरूपण करते मालूम नहीं पड़ते। विश्व एक अर्थहीन, असार और निरर्थक दिखावा लगता है। अगर अन्ततः 'न कुछ' ही सब-कुछ नहीं है, तो इसका कोई अर्थ जरूर होना चाहिए।

पशु रोग, क्षय और मृत्यु के शिकार तो होते हैं, लेकिन वे मानसिक क्लेश का अनुभव नहीं करते। आदमी पशुओं को जानता है, लेकिन वे उसे नहीं जानते। हममें से कुछ पशुओं की तरह व्यवहार करते हैं और हमारा जीवन अधिकतर अपने से पलायन है। हमें तात्कालिक इच्छाओं की पूर्ति से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। यह भूख पशुवत-तुष्टि और यहाँ तक कि बौद्धिक और सौन्दर्य-शास्त्रीय अनुभवों से बड़ी है। हितोपदेश कहता है कि हर सुबह उठने पर आदमी को सोचना चाहिए कि "किस भयानक विपदा, मृत्यु, रोग या दुःख का आज सामना करना पड़ेगा ?"[1]

हिन्दू-चिन्तन विश्व को 'संसार' कहता है—ऐसी वस्तु जो बहती ही रहती है, ठहरती या रुकती नहीं। यह घटनाओं की एक सतत प्रक्रिया है, जिसमें एक घटना दूसरी की जगह ले लेती है। बुद्ध अपने जीवन-दर्शन को दुःख पर आधारित करते हैं और पूछते हैं कि क्या इससे मुक्ति का कोई उपाय है—मनुष्य के इस अस्तित्ववादी अजनबीपन से।

कन्फ्यूसियस लिखते हैं :

बड़े पर्वत भहरा जाते हैं
शक्तिशाली कड़ी का टूटना निश्चित है
और बुद्धिमान मनुष्य पौधों की तरह मुरझा जाते हैं।

---

१. उत्तायोथ्थावा बोधव्यम महत भायम उपस्थितम
मरण—व्याधि—शोकानामं किम अद्य निपत्तिष्यति
भर्तृहरि :
आदित्यस्य गठागतैः अहा समच्छिते जीवितम
व्यापारैः बहु-कार्यभार गुरुभीह कालो न विज्ञते
दृष्ट्वा जन्म-जरा-विपत्ति मरणम त्रस्श्च नोहपद्यते
पीत्वा मोह-मयीम प्रमाद-मदिराम् उन्मत्त भूतम् जगत्
—वैराग्य-शतक

"आदमी ! याद रखो कि तुम मिट्टी हो और फिर मिट्टी में मिल जाओगे ।"

जेरेमिआ कहते हैं :

"शाप लगे ऐसे दिन को जब मैं पैदा हुआ, जिस दिन मेरी माँ ने मुझे गर्भ में धारण किया, उसका मंगल न हो । उस आदमी का भला न हो, जिसने मेरे पिता को खुश होकर यह बताया कि 'आपको एक पुत्र की प्राप्ति हुई है ।' और उन्हें खुश कर दिया । उन्होंने गर्भ में ही मेरी हत्या क्यों नहीं कर दी ! मेरी माँ ही मेरी कब्र थी । मैं गर्भ से बाहर क्यों आया ? यातना और पीड़ा देखने के लिए, यह देखने के लिए कि मेरे छिन शार्म से भरे पड़े हैं ।"[1]

"जिस तरह चिनगारियाँ ऊपर की ओर उड़ती हैं, उसी तरह मनुष्य कष्ठ उठाने के लिए जन्म लेता है ।"[2]

प्लेटो दर्शन को मृत्यु के ध्यान के रूप में देखते हैं । ईसाइयत ने अपनी आस्था का ढाँचा दैवी निराशा पर खड़ा किया । सन्त आगस्टाइन 'व्यक्ति के जीवन की अन्तहीन अशान्ति' की बात कहते हैं ।[3]

मृत्यु-बोध ही चिन्ता का स्रोत है । अगर मनुष्य दुनिया में और इसके वैविध्य में अपने को खो दे, तो उसकी चिन्ता थोड़ी देर तक टिकने वाला भय हो सकती है । लेकिन मनुष्य सोचने वाला प्राणी है । जब वह अपने परिमित और सीमित अस्तित्व के बारे में सोचता है, तो वह अपने भय पर विजय प्राप्त कर लेता है, जिसके बारे में हेडेगर कहता है कि 'वह (भय) मनुष्य से ज़्यादा आदिकालिक है ।' जब भय अपने बारे में सचेत हो जाता है तो वह सन्ताप बन जाता है । आत्मा की ट्रैजिडी के साथ, विश्व को मर्त्य रूप में देखने का ध्यान जुड़ जाता है । खो जाने की क्षमता महसूस करना मनुष्य की दुःखदायी नियति और यशस्वी विशेषाधिकार है ।

: ५ :

आधुनिक मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसकी कहीं जड़ें नहीं हैं, क्योंकि वह अपने असली स्वरूप से अनभिज्ञ है । वह अस्तित्व के बोध की अनुपस्थिति और यथार्थ बोध के अभाव पर पश्चात्ताप करता है । वह मात्र

---

१. २०; १४वाँ पाठ ।

२. बाइबल का जॉब खण्ड ।

३. 'इमिटेशन ऑफ़ क्राइस्ट' में टामस-ए-केम्पिस लिखता है : "अगर तुम कष्ट के सिवा और कुछ ढूँढ़ते हो तो तुम बहुत बड़ी भूल करते हो, क्योंकि यह सारा मर्त्य जीवन दुःखों से भरा है और सलीबों से घिरा और छिदा है ।"

अस्तित्व के संयोगों और परिवर्तनों से घिरा है। उसकी शक्ति अधिकार की इच्छा या मात्र सुरक्षा का प्रयास बन जाती है। यह नास्तिवाद है जो किसी भी चीज़ को चरम मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं करता।

लेकिन एक स्वाभाविक प्लेटोवाद, चरम अराजकता का एक संत्रास है जो मनुष्य को यह जानने के लिए प्रेरित करता है कि क्या इस चिरंतन बहाव के पीछे कोई यथार्थ है। हमारी सभी उपलब्धियों की लौकिकता और मर्त्यता हमें यह जानने को बाध्य करती है कि क्या विश्व-प्रक्रिया के परे और उसके पीछे कोई चीज़ है। कलह और कष्ट से परे की एक दुनिया के लिए मनुष्य की भूख पुरानी है। अगर एक 'परे का जगत्' नहीं होता तो हम विश्व-प्रक्रिया से सन्तुष्ट हो जाते। कष्ट उठाता हुआ मनुष्य, उपनिषद् के शब्दों में चिल्ला उठता है :

मुझे अयथार्थ से यथार्थ की ओर ले चलो
मुझे अँधेरे से प्रकाश की ओर ले चलो
मुझे मृत्यु से चिरंतन जीवन की ओर ले चलो

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर मा अमृतम्गमय।

मनुष्य दुनिया से संन्यास ले सकता है और यह बात प्रमाणित करती है कि वह कुछ अर्थों में दुनिया से परे है। मनुष्य ईश्वर को एक बड़ी आवश्यकता के रूप में स्वीकार करता है। आस्था का मतलब किसी ऐसी चीज़ पर विश्वास है जो देखी-जानी न गई हो। संकीर्ण प्रयोग-सिद्धि (इम्पीरिसिज़्म) क्षणिक, भ्रमित, अनुचित लगने वाले तथ्यों के बारे में जो कुछ बताती है, आस्था उसका अस्वीकार है। आस्था स्वयंसिद्ध है, मामूली बोध नहीं है। ईश्वर-विषयक ज्ञान मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक रूप से रहता है।

जेनेसिस में कहा गया है कि अगर स्त्री-पुरुष केवल एक ही पेड़ के फल खाएँ तो 'वे ईश्वर के समान हो जाएँगे।' इसका अर्थ यही है कि हम जो कुछ हैं, हम वैसे नहीं हैं, जैसा कि हमें होना चाहिए। 'लेविटिक्स'[१] में प्रभु कहते हैं : "तुम्हें पवित्र होना चाहिए, क्योंकि मैं तुम्हारा स्वामी, ईश्वर, पवित्र हूँ।" ईसाइयत निश्चयात्मक स्वर में कहती है कि मृत्यु ही सब-कुछ नहीं है। सलीब पर टाँगकर मारा गया ईश्वर अन्तिम शब्द नहीं है। 'वह उठ पड़ा है।' ईस्टर का त्योहार ईश्वर के पुनर्जन्म को बड़ी धूमधाम से मनाता है। मृत्यु पीड़ादायक नहीं है। कब्र जीवन को परास्त नहीं करती। प्रेम ही एकमात्र यथार्थ है। इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। मनुष्य इसके ख़िलाफ़ जो कुछ भी कर सकता है,

१. अध्याय १९।

वह शक्तिहीन है। शेक्सपियर को यह मालूम था कि सभी लौकिक चीज़ों पर समय का राज्य है और यह मनुष्य का काम है कि वह समय की अन्तहीनता का, चिरंतनता का बोध विकसित करे :

हमारे उत्सव खत्म हो गये हैं, जैसा कि मैंने पहले कहा था,
हमारे ये अभिनेता, प्रेतात्माएँ थीं, और ये मिल गये
हैं हवा में, पतली हवा में,
और इस दृष्टि की आधारहीन बुनावट की तरह,
बादलों को छूते गुम्बद, भड़कीले राजमहल,
पवित्र मन्दिर, और स्वयं महान् पृथ्वी,
और इसमें जो कुछ भी है, सब बिखर जाएगा,
और इस अधूरे मेले की तरह विलीन हो जाएगा,
बिना कोई चिह्न छोड़े, हम स्वप्नों की तरह हैं,
और हमारा छोटा-सा जीवन नींद का घेरा है।

अपने प्रसिद्ध गीत 'मेरे साथ रहो' में एच० एफ़० लाइट लिखते हैं :

मैं अपने चारों ओर परिवर्तन और क्षय देखता हूँ
ओ, तुम जो बदलते नहीं हो मेरे साथ रहो !
अगर तुम्हारा आशीर्वाद मिलता रहे तो फिर किसी शत्रु का भय नहीं,
बुराइयों को कोई महत्त्व नहीं, आँसुओं में घृणा नहीं,
कहाँ है मृत्यु की यातना ? कब्र की विजय ?
अगर तुम मेरे साथ हो तो बराबर जीतता हूँ मैं।

हैंडेल के मेसाइहा में हम पढ़ते हैं : "भले ही कीड़े मेरे शरीर को नष्ट कर दें, फिर भी क्या मैं अपने मांस में ईश्वर को देखूं।"

स्वर्ग का प्रकाश बराबर चमकता है,
धरती की छायाएँ उड़ती हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग इन सब अर्थों में हुआ है—मनुष्य की आत्मा की आकांक्षा, आत्मा का अति विकास, प्रार्थना और उसका लक्ष्य अर्थात् चरम यथार्थ मनुष्य में जो सनातन है, वही उसे खोज के लिए प्रेरित करता है। अपरिमित या अनन्त की उपस्थिति ही उसे परिमित से असन्तुष्ट बनाती है। रोमन्स में दी गई स्वीकारोक्ति से इसकी तुलना करें—"हमें यह नहीं मालूम कि हमें जिस तरह प्रार्थना करनी चाहिए, वह कैसे की जाए—लेकिन आत्मा स्वयं हमारे लिए मध्यस्थता करती है—अपनी उन आहों के साथ जो शब्दों से परे हैं।" यह दृष्टिकोण हमें ईश्वर के वचन की याद दिला देता है.

जिसके बारे में पास्कल का यह विश्वास था कि उसने उसे सुना था : "अगर तुमने मुझे पहले ही पा न लिया होता तो तुम मेरी खोज नहीं करते।"[१] काफ्का ने कहा : "आदमी उस घर को ढूंढ़ने के लिए बाहर जाता है, जिसे वह खो चुका होता है।" गांधी कहते हैं : "ऐसी दुनिया में जहाँ ईश्वर, जो सत्य है, के सिवा और कुछ भी निश्चित नहीं है, मुझे निश्चयों की खोज करना ग़लत लगता है। हमारे आसपास और चारों ओर जो कुछ घटता है वह अनिश्चित और अनित्य है। लेकिन कोई सर्वशक्तिमान इसमें छिपा हुआ है। और अगर इस निश्चय की एक झलक पाकर कोई अगर अपनी ज़िन्दगी की गाड़ी उसके साथ बाँध दे तो उसका मंगल होगा। सत्य की खोज जीवन का चरम कल्याणकारी लक्ष्य है।

पीड़ा, मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व का फल है। उसकी दो दुनियाएँ हैं आध्यात्मिक और प्रकृत। वह है भी और नहीं भी।[२] धरती का नागरिक होने के नाते वह मृत्यु के राज्य की प्रजा है—उसका शिकार है। उसकी एक दुनिया आत्मा की दुनिया है, जहाँ वह समय से बँधा हुआ नहीं है।

जबकि निश्चयवाद वैज्ञानिक प्रणाली से प्रभावित है, अस्तित्ववाद के पास प्रेरक शक्ति के रूप में धार्मिक खोज है। अस्तित्ववाद उन मूलभूत-मौलिक चिन्तन रूपों में से है जो दर्शन के इतिहास में तब-तब सामने आता है, जब-जब हम मनुष्य के व्यक्ति-रूप और प्रकृति के वस्तु-रूप के अन्तर पर ज़ोर देते हैं। आत्म (स्व) के अस्तित्व में और वस्तुओं के अस्तित्व में अन्तर है। मनुष्य सिर्फ़ है ही नहीं, वह 'जानता' भी है कि वह 'है'। उसका अस्तित्व उसके सामने खुला हुआ है। ज्ञान वस्तु-जगत् में सीमित है, लेकिन आत्म भीतर से प्रस्फुटित है—ग्रहण किया हुआ है। वस्तु-परक ज्ञान के साथ-ही-साथ आत्म-निष्ठ ज्ञान भी होता है। कई बार यह तर्क दिया जाता है कि कोई ऐसी चीज़ जो अकाट्य रूप में प्रस्तुत की गई होती है वह आत्म-ज्ञान है। हम उसी रूप में दुनिया की वस्तुओं के बारे में नहीं जानते। अस्तित्व को तर्कशास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जिस तरह ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है, उसी तरह इस बात को मानने के कारण भी हैं कि हमारे अनुभव की दुनिया अपने-आपमें

---

१. वर्ड्स्वर्थ : "ओ! मनुष्य के रहस्य, कितनी गहराई से तुम्हारे मान-सम्मान आते हैं, मैं खो जाता हूँ लेकिन देखता हूँ कि सरल बचपन ही वह आधार है, जिस पर खड़ी है तुम्हारी महानता, लेकिन मैं यह महसूस करता हूँ कि तुम्हारे अन्दर से ही यह बात आती है कि जो कुछ तुम्हें कभी नहीं मिलेगा, वह तुम्हें देना है।"

२. सद्-असद्-आत्मका।

काफ़ी नहीं है। धार्मिक अनुभव पर्याप्त नहीं है। धार्मिक अनुभव बौद्धिक और विवादी ज्ञान के परे चला जाता है। कीर्केगार्द अपने संस्मरणों में लिखते हैं :

"हर पीढ़ी के ज़्यादातर लोग, वे भी जिनके बारे में यह कहा जाता है कि वे चिन्तन के प्रति समर्पित रहते हैं, इसी प्रभाव में जीते और मर जाते हैं कि जीवन सिर्फ ज़्यादा और ज़्यादा समझे जाने की चीज़ है। और यह भी कि अगर उन्हें और अधिक दिनों तक जीने का समय मिलता तो भी जीवन इस समझ के विकास की एक लम्बी निरन्तरता बना रहता। उनमें से कितनों में कभी अनुभव की यह प्रौढ़ता आ पाती है कि वे इस बात की खोज करें कि एक ऐसे संकट का क्षण भी आता है जब हर चीज़ बदल जाती है। और उसके बाद मुख्य बात ज़्यादा और ज़्यादा इसे समझने की रह जाती है कि कुछ ऐसा भी है जिसे समझा नहीं जा सकता। यह सुकराती (सुकरात का) अज्ञान है। और यहीं हमारे समय के दर्शन को इस सुधार की ज़रूरत है।"

हर आदमी अपने सहवर्तियों के साथ एक दुनिया का भागीदार होता है, लेकिन उसकी अपनी एक निजी दुनिया भी होती है—कल्पनाओं, इच्छाओं और स्वप्नों की दुनिया। अस्तित्ववादी हमसे जीवित अनुभव की तात्कालिकता के साथ शुरुआत करने के लिए कहते हैं, जो अस्तित्ववादी ढंग से अपने भीतर से ही ग्रहण किया जा सकता है। हम जिस दुनिया में प्रेम करते हैं, अपराध करते हैं, प्रार्थना करते हैं या दिल छोड़ते हैं, वही अनुभव की सबसे महत्त्वपूर्ण दुनिया है।

बुद्ध का दृष्टिकोण मज्झिम निकाय के ६३वें उपदेश से स्पष्ट हो जाता है। मज्झिम निकाय, सुत्तपिटक का एक भाग है, जिसका नाम लघु मालुंक्य सुन्तात्त है। इसमें मालुंक्यपुन्त नाम का भिक्षु इस बात की शिकायत करता है कि बुद्ध ने कुछ महत्त्वपूर्ण सवालों को विस्तार से और साफ़-साफ़ नहीं समझाया, जैसे "संसार सनातन है या नहीं? यह अपरिमित है परिमित? आत्मा और शरीर अभिन्न हैं या भिन्न? पूर्णता प्राप्त करने वाले का अस्तित्व मृत्यु के बाद रहता है या नहीं।" बुद्ध इसका उत्तर एक दृष्टान्त से देते हैं :

"कल्पना करो कि एक आदमी विष-बुझे तीर से घायल हो गया है और उसके मित्र उपचार के लिए एक वैद्य लाते हैं। और कल्पना करो कि वह आदमी कहता है कि 'मैं तब तक तीर को नहीं निकालने दूँगा और उपचार नहीं करवाऊँगा जब तक कि मैं उस आदमी के बारे में सब-कुछ ब्यौरेवार नहीं जान लेता कि उसका नाम क्या है, जाति और आकार क्या है, वह देखने में कैसा लगता है और कहाँ रहता है। और यह भी कि तीर, धनुष की डोरी और

धनुष के बनाने में ठीक-ठीक किस सामग्री का उपयोग किया गया है।' क्या ऐसा आदमी ऐसे व्यर्थ के और असंगत सवालों के उत्तर पाने से पहले, विषहरे घाव के कारण मर नहीं जाएगा ?"

इसीलिए अच्छे जीवन के लिए बुद्ध का सिद्धान्त भी दुनिया की प्रकृति या आत्मा की प्रकृति या इस पर निर्भर नहीं करता कि मृत्यु के बाद बुद्ध का क्या होगा ? इन प्रश्नों से कोई लाभ नहीं है। "मैं केवल दुःख, दुःख के कारण, दुःख से मुक्ति, और दुःख से मुक्ति के उपाय में रुचि रखता हूँ।" बुद्ध ने एक जीवन-पद्धति का उपदेश दिया, किसी चिन्तन-प्रणाली का नहीं। उनकी रुचि नितान्त व्यावहारिक थी—मनुष्य का रूपान्तर।

कीर्कगार्द ने अपने लेखन के बारे में कहा है : "यह एक ऐसा साहित्यिक कृतित्व है, जिसमें पूरा चिन्तन ईसाई बनने की प्रक्रिया है।" यास्पर्स के लेखन में, एक भिन्न प्रकार का आदमी बनने पर ज़ोर दिया गया है। यास्पर्स के दर्शन में हमारी भेंट तीन तरह के अस्तित्वों से होती है, वस्तु-जगत् का अस्तित्व जिसके बारे में बाहर से जाना जा सकता है, आत्म का या निजी अस्तित्व का अस्तित्व जो अपने से परे संकेत करता है और अपन-आपमें रहने वाला या अपने-आप से परे चले जाने वाला अस्तित्व, जिसमें दोनों अन्य अस्तित्व शामिल हैं। यास्पर्स के अनुसार दर्शन, व्यक्ति द्वारा अपना अतिक्रमण करने की आकांक्षा या कोशिश है। "दार्शनिक प्रयास में हमारा टिकाऊ काम, अस्तित्व-सजगता के द्वारा प्रामाणिक मनुष्य बनना है; या और यह भी वही बात है, ईश्वर के होने का निश्चय प्राप्त कर, अपने-आपमें, आत्म में स्थित रहना।"[१]

हेडेगर प्रामाणिक और अप्रामाणिक जीवन का भेद करते हैं।

मनुष्य जीवित प्राणियों के बीच इसलिए अतुलनीय है, क्योंकि वह अपने अस्तित्व के बारे में सजग है और जानता है कि उसका अस्तित्व वास्तविक महत्त्व का है। वह जीवन को निरर्थक नहीं मानता। यहाँ तक कि जब वह किसी भौतिकवादी मत को मानता है, जो अस्तित्व से अर्थ या मूल्य छीन लेता है, तब भी वह विश्वास करता है कि मानो जो कुछ भी वह कर रहा है वह महत्त्वहीन नहीं है। वह यह मानकर चलता है कि दुनिया का अर्थ या मूल्य है। उसे जीवन जीने के लिए एक आस्था की ज़रूरत होती है। धार्मिक प्रवृत्ति को नकारा नहीं जा सकता। अगर यह एक धर्म से सन्तुष्ट नहीं होती तो दूसरा धर्म ढूंढती है। सभी धर्मों में एक आस्था होती है, किसी का होकर रहने की और अपने से 'भागने' की इच्छा होती है। प्रेम के बिना आस्था या आशा

१. 'द पेरेनियल स्कोप ऑफ़ फिलासफी' (१९४८), पृष्ठ १५९।

नहीं हो सकती। समता के लिए राजनीतिक लड़ाई में, या संयुक्त समाज के शक्ति-प्रभावी रूपों में, लौकिक कलाओं और विज्ञान में, प्रेम का सिद्धान्त ही काम करता है। हम परिमितिता और सक्रियता (इनवाल्वमेंट) से प्रेम करते हैं। ये हमें आनन्द की ओर ले जाते हैं। हम कष्ट उठाते हैं और दुखी रहते हैं। हमारे मानसिक सन्ताप, रोग और दोष आध्यात्मिक जीवन के अभाव के कारण हैं। आस्था दृढ़तापूर्वक यह कहती है कि एक दूसरी ओर बेहतर दुनिया है: एक अलौकिक दुनिया, लेकिन आस्था विवेक और अनुभव से अपने को अलग नहीं रख सकती।

४

आस्था और विवेक

: १ :

अर्थहीनता की समस्या केवल धार्मिक आस्था द्वारा नहीं सुलाई जा सकती। आस्था को बल देते रहने के लिए तात्त्विक ज्ञान जरूरी है। विवेक और आस्था की दुनियाओं के परिक्रमा-पथ अलग नहीं हैं। भारतीय चिन्तन का यह दृढ़ विश्वास है कि धार्मिक प्रस्तावनाएँ विवेक में अवस्थित होनी चाहिए। यथार्थ को विवेक, ध्यान और विकास के द्वारा जाना जाता है। उपनिषदों में निर्देशित मनन का अनुशासन हमसे यह अपेक्षा करता है कि हम धर्म-ग्रन्थों के अनुसार ध्यान करें। सांख्य एक दर्शन-पद्धति का नाम है और इसका अर्थ सचमुच अन्वेषण है।[१] संख्या, जिससे सांख्य बना है, का मतलब बराबर गिनती नहीं होता। यह अन्वेषण है।[२] पातंजलि सर्व-ज्ञान के अर्थ में प्रश्नख्यान पद का प्रयोग करते हैं।[३] चरम यथार्थ-ज्ञान के लिए बौद्धिक दृष्टि पर भारतीय चिन्तन में सामान्य रूप से ज़ोर दिया जाता है। शास्त्रार्थ से—बहस से—यथार्थ उद्भासित होता है।[४] अगर बहस यथार्थ को उद्भासित नहीं करती तो वह वचन की थकावट मात्र है।[५] शास्त्रार्थ में यह आस्था निहित है कि सत्य है और हम शास्त्रार्थ द्वारा इसकी ओर बढ़ सकते हैं। हमें तात्त्विक पूर्व-कल्पनाओं को सोच निकालना होगा और उस धार्मिक कार्य-कारण सम्बन्ध का निजी

१. विष्णुसहस्रनाम पर अपनी टीका में शंकर व्यास-स्मृति से उद्धरण देते हैं : शुद्धात्मा तत्व विज्ञानम सांख्यम् इति अभिधीयते :
महाभारत :

नास्ति विद्या समं चक्षुः
नास्ति सत्य समं तपः
(१०.३३१.६.)

२. कर्म, संख्या, विकारणः अमरकोश, १.५.२.

३. योग सूत्र, ४.२.६.

४. वादे वादे जायते तत्व-बोधः।

५. वाको विग्लापनम ही तत।

अनुभव प्राप्त करना होगा, जिनसे सभी जीवन्त आस्थाओं का अभ्युदय होता है। हमें बौद्धिक प्रयास, आध्यात्मिक पकड़, तत्त्वमीमांसा और धर्म की ज़रूरत है। केवल वही विवेकपूर्ण आस्था, जिसमें सन्देह और अनिश्चय के प्रति खुलापन हो, जीवन और चिन्तन को सन्दर्भ और संयुक्तता दे सकती है।

हालांकि कार्ल बार्थ जैसे कुछ ऐसे ईसाई धर्मशास्त्री हैं जो धार्मिक क्षेत्र में विवेक की 'घुसपैठ' का विरोध करते हैं, जो धर्म के किसी तरह के दर्शन-शास्त्र की सम्भावना से इन्कार करते हैं,[1] फिर भी ईसाइयत के कैथलिक और बहुत-से प्रोटेस्टेंट रूपों में, मुख्य प्रवृत्ति आस्था की रक्षा के लिए विवेक के उपयोग की है। धार्मिक आस्था चिन्तन का स्थान नहीं ले सकती, लेकिन उसे इसी पर आधारित होना है। केवल चिन्तन द्वारा ही आदमी धर्म में अपनी आस्था बनाए रख सकता है। आस्था को जिज्ञासा का बल मिलते रहना चाहिए। आध्यात्मिक अनुभव, मस्तिष्क के प्रकाशवान होने में और हृदय की शुद्धता में किसी भेद या अलगाव को अस्वीकार करता है।

: २ :

तर्कशास्त्रीय निश्चयवाद मनुष्य के उस स्वाभाविक गुण की कोई गणना नहीं करता जो उसे ऐसी सभ्यता में काम करने का साहस देता है, जिसे उसने अर्थहीन बना दिया है। यह अतीत के प्रति हमारे ऋण को भुला देता है। हमें अपने पूर्वजों को, यहाँ तक कि वंशधरों को, भूल जाने के लिए बाध्य किया जाता है, यही नहीं हम अपने समकालीनों से भी कट जाते हैं। हमें अपने ऊपर छोड़ दिया जाता है और अन्त में हम अपने हृदय के अकेलेपन के बीच घेर दिए जाते हैं। हो सकता है कि अतीत की व्यवस्थाएँ हमारी समस्याएँ न सुलझा पाएँ या हमारी आत्माओं की रक्षा न कर पाएँ, लेकिन उन्होंने हमें वर्तमान अवस्था तक पहुँचाया है।

कोई भी वैज्ञानिक बिना इस विश्वास के आगे नहीं बढ़ सकता कि एक दुनिया है, कि इसमें क्रम है और कि मनुष्य का मस्तिष्क इस क्रम या व्यवस्था को समझने की क्षमता रखता है। अनुमानतः अव्यवस्थित या अग्राह्य विश्व को समझने का वैज्ञानिक प्रयास इसी विश्वास पर खड़ा होता है। बिना इस विश्वास के हम अब भी यही महसूस करते कि सनकवाली शक्तियाँ ही विश्व को नियन्त्रित करती हैं। अन्धविश्वास के युग का विज्ञान के युग में परिवर्तन इसी आस्था को सूचित करता है कि एक व्यवस्थित विश्व है जो मनुष्य की समझ में

---

१. एमिल ब्रूनर कहते हैं : "ईसा के पहले सामान्य देववाणी का अस्वीकार न तो पाल को प्रभावित करेगा न मोटे तौर पर बाइबिल को।"

आता है। आइंस्टीन ने प्रिंसटन के हॉल में एक सुभाषित खुदवा रखा था : "ईश्वर बहुत सूक्ष्म बुद्धि वाला है, लेकिन विद्वेषी नहीं है।" प्रत्येक वैज्ञानिक में विश्व की व्यवस्था और विश्व की एकता की एक दृष्टि होती है। उसमें जॉब-जैसी आस्था है, 'यद्यपि वह मेरा हत्यारा है, तदपि क्या मैं उसमें विश्वास करूँ ?' अनुभव आगे बढ़कर इन विश्वासों को प्रमाणित कर सकता है, लेकिन जब एक वैज्ञानिक इनके साथ कोई शुरुआत करता है तो यह आस्था की ही बात होती है, प्रयोग द्वारा जाने हुए सत्य की नहीं।"

तर्कशास्त्रीय निश्चयवाद प्रमाण के सिद्धान्त को अपनाता है। कोई भी वाक्य तथ्यात्मक तभी है जबकि उसे इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा प्रमाणित किया जा सके। धार्मिक प्रस्तावनाएँ ऐसे प्रयोग-सिद्ध प्रमाणों के घेरे में नहीं आतीं और इसलिए उनमें कोई तथ्यात्मक अर्थ नहीं होता।

प्रामाणिकता का सिद्धान्त स्वयंसिद्ध वक्तव्य नहीं है, न ही इसे इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। यह उन्हीं की तरह की तर्कशास्त्रीय प्रकृति का वक्तव्य नहीं है, जिनके लिए यह अर्थहीनता का मानदण्ड प्रस्तुत करता है। यही नहीं, अर्थवान और अर्थहीन वक्तव्यों के बीच कोई विभाजन-रेखा खींचना आसान नहीं है। विश्व-भर में स्वीकृत वैज्ञानिक सिद्धान्तों की परीक्षा इन्द्रिय-ज्ञान के बल पर नहीं की जा सकती। इस आधार पर हम प्रकृति के नियमों को अस्वीकार नहीं करते। अगर हम गहरे में जाकर देखें तो हम पाएँगे कि धर्म में जिस 'देववाणी' की बात कही जाती है, वह विज्ञान की 'देव-वाणी' से प्रकृति में भिन्न नहीं है। हम यह मानते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान तर्क-शास्त्रीय निगमन (डिडक्शन) का और दत्त-सामग्री के विश्लेषण का फल है, जबकि धार्मिक ज्ञान 'देववाणी' या 'आकाशवाणी' का फल है। महान् वैज्ञानिक सूझें कमोबेश धार्मिक देववाणियों की तरह ही प्रकट होती हैं। मूसा बहुत दिनों तक इस्राइल के पुत्रों को बचाने की समस्या से परेशान था और अचानक उसे जलती झाड़ी से एक 'दैवी प्रकाश' मिला। गौतम बुद्ध वर्षों तक यथार्थ की प्रकृति के बारे में जानने के लिए बेचैन रहे और एक दिन वे शान्तिपूर्वक पीपल के पेड़ के नीचे बैठे और उन्होंने इस सबके सम्बन्ध में सत्य पा लिया। आर्कि-मिडीज़ ने स्नान करते-करते 'यूरेका' को पा लिया, जो एक चमक की तरह प्रकट हुई और जो वैज्ञानिक सिद्धान्त उसके अध्ययन में बहुत दिनों उससे कन्नी काटता रहा था। कठिन परिश्रम और किसी समस्या के प्रति बौद्धिक प्रतिबद्धता के बाद वैज्ञानिक सहसा उसका उत्तर, एक 'उद्घाटन' से, ठीक-ठीक पा लेता है। आधुनिक गणित और भौतिकी जिन अवधारणाओं का प्रयोग करते हैं उन्हें

सीधे तौर पर इन्द्रिय-ज्ञान से नहीं जांचा या प्रमाणित किया जा सकता। वे ऐसे निगमन की ओर ले जाती हैं जिसे अन्ततः प्रयोगात्मक स्थितियों से जोड़ा जा सकता है।

धर्म और विज्ञान दोनों से, अनुमान की 'छलांग' ही आविष्कार और रचना को जन्म देती है, तथ्य नहीं। विज्ञान में परीक्षित दत्त-सामग्री की परख ही भक्ति है, जो कि उपपत्तियों की प्रामाणिकता की माप है। वैज्ञानिक के मस्तिष्क में सच का स्वभाव गहरे में काम करता रहता है और जब भी अनुभव किसी नये सत्य की ओर संकेत करता है, उसका मन स्थापित मत को अस्वीकार करने के लिए बेचैन हो उठता है। विज्ञान और धर्म, दोनों ही, मानवीय प्रतिष्ठा के बोध को बढ़ावा देते हैं।

निश्चयवाद कुछ बड़ी दार्शनिक समस्याओं के उत्तर देता है। यह विज्ञान की एक तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत करता है, एक विश्व-दृष्टि, जो विज्ञान के प्रति उत्साह रखने वालों को प्रभावित करती है। बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं : "मेरे बौद्धिक विश्वासों में से सबसे मूलभूत विश्वास यह है कि यह विचार कि विश्व में कोई एकता है, निरर्थक है। मैं समझता हूँ कि विश्व टुकड़ों या धब्बों और झटकों का समूह है, जिसमें एकता, निरन्तरता, संयुक्तता, व्यवस्था या ऐसी कोई भी चीज़ नहीं है, जो प्रेम को पालती है।" यह तत्त्वमीमांसा के बारे में एक वक्तव्य है। यहाँ तक कि वे भी, जो यह दावा करते हैं कि कोई अतिक्रमणी (ट्रांसिडेंटल) यथार्थ नहीं है, ऐसा कहकर विश्व की प्रकृति के बारे में तत्त्वमीमांसा सम्बन्धित वक्तव्य ही देते हैं। अन्त में, तत्त्वमीमांसा का वहिष्कार, उसके ही एक दूसरे रूप का पूरक बन जाता है।

चाहें तो हम प्लेटो के आदर्शवाद से लेकर मार्क्स के भौतिकवाद तक की तत्त्वमीमांसक प्रणालियों को अस्वीकार कर सकते हैं, लेकिन तत्त्वमीमांसक चिन्तन से छुटकारा नहीं है। चिन्तन जब अपने बारे में सजग हो उठता है तो तत्त्वमीमांसा का जन्म स्वभावतः हो जाता है। यहाँ तक कि जो कोई तत्त्व-मीमांसा को अस्वीकार करता है वह भी तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत ऐसा करता है, भले ही उसको इसका पता न हो।[1] जब भी मूल्यों के मानों का इस्तेमाल

---

१. एच० जी० वेल्स : "जब मैं युवा था तब सोचता था कि सारी तत्त्वमीमांसा केवल शाब्दिक उत्तेजना है। फिर मुझे पता चला कि यह इतनी सरल नहीं थी। यह—'ग्रहण करो या छोड़ दो। अगर यह तुम्हें आकर्षित नहीं करती तो कोई बात नहीं।'—का ही मामला नहीं थी। मुझे पता चला कि हर आदमी के पास एक तत्त्वमीमांसा, संदर्भ-चौखटा और योजना होते हैं, जिनके अनुसार वह काम करता है, भले ही उसे

किया जाता है और आलोचना-पद्धति लागू की जाती है, तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत हो जाती है। विश्लेषक दार्शनिकों का तर्कशास्त्र स्वयं तत्त्वमीमांसा पर, विश्व से सम्बन्धित कुछ पूर्व-कल्पनाओं पर आधारित होता है। तर्कशास्त्रीय विश्लेषण का जो भी मूल्य है, उसे सिर्फ़ जीवन के प्रति दृष्टिकोण की पदावली में परिभाषित किया जा सकता है, जिसे तर्कशास्त्रीय विश्लेषण स्वयं स्थापित नहीं कर सकता।

जब तर्कशास्त्रीय निश्चयवादी यह दावा करते हैं कि दार्शनिक अन्वेषण के लिए अनुभव ही प्राप्त सामग्री (डाटा) का अनिवार्य स्रोत है, तब वे अमूर्त का विरोध करते हैं और अनुभव की अपील करते हैं। लेकिन वे 'अनुभव' शब्द को इन्द्रिय-अनुभव में सीमित कर देते हैं और अनुभव के दूसरे तमाम आयामों को भुला देते हैं। यहाँ तक कि लॉक और ह्यूम, जो आधुनिक प्रयोग-सिद्ध-पद्धति के संस्थापक माने जाते हैं, भी दो तरह के अनुभवों को स्वीकार करते हैं—एक संवेदन का और दूसरा ध्यान या अन्तर्दर्शन का। नैतिक, सौन्दर्य-शास्त्रीय और धार्मिक अनुभव भी होते हैं। प्लोटीनस का अनुभव आध्यात्मिक प्रकार का अनुभव है।

हमारे तीव्र अनुभव, ज्ञान के लिए ललक, सौन्दर्य की उत्तेजना, अच्छाई की शक्ति, आत्मिक बोध आदि बातें प्रयोग-सिद्ध-पद्धति की दुनिया से अलग नहीं की जा सकतीं।

अनुभव, विशेष रूप से वही नहीं है जो विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति द्वारा मिलता है। मानव-जीवन के दूसरे क्षेत्रों से बौद्धिक अलगाव, तर्कशास्त्रीय निश्चयवाद का प्रमुख अंग है। जब हम विज्ञान की बात करते हैं तब इस पद के अन्तर्गत हम केवल गणित, भौतिकी और जैविकी विज्ञान को ही शामिल नहीं करते बल्कि समाज-विज्ञान को भी शामिल करते हैं और उन्हें भी जिनका आध्यात्मिक मूल्यों से वास्ता है।[1] दार्शनिक व्याख्या के किसी भी गम्भीर

इसके बारे में मालूम हो या न मालूम हो। महत्त्वपूर्ण बात यही है कि वह काम में आती है या नहीं।"

१. कैम्ब्रिज के प्रोफ़ेसर सी० डी० ब्रॉड अपनी 'फ़ाइव टाइम्स ऑफ़ एथिकल थ्योरी' की भूमिका में लिखते हैं: "शायद पाठक को पहले ही सावधान कर देना अच्छा रहेगा कि मेरा अनुभव, व्यावहारिक और भावात्मक, दोनों ही, उतना भी नहीं है जितना कि एक प्राध्यापक का होना चाहिए। कैम्ब्रिज के कालेजों के वक्ता नायकत्व के गुणों या चमत्कृत कर देने वाले दोष से, हर हालत में भरसक कम ही प्रभावित होते हैं; और क्या ही अच्छा होता अगर बाकी मानव-जाति भी इसी भाग्यशाली स्थिति में होती! यही नहीं, व्यवहार में अच्छे और बुरे के ऊपर उत्तेजित होने में मैं कठिनाई

प्रयास को अनुभव की सारी दत्त-सामग्री पर ध्यान देना होगा।

प्राकृतिक प्रतिभास के परीक्षण से विज्ञान किसी नैतिक संहिता के निगमन का दावा नहीं करता। कोई वैज्ञानिक विश्लेषण यह सिद्ध नहीं कर सकता कि जिसके पास झूठी साक्षी है वह कोई ग़लत काम कर रहा है, या कि ग़लत करने से ग़लत को भुगतना बेहतर है, या कि दुनिया की शक्तियों के सामने झुकने से मर जाना बेहतर है। इस कृतज्ञता-बोध की व्याख्या सामाजिक बचाव (सरवाइवल) की आवश्यकता के फल के रूप में नहीं की जा सकती। उस मनुष्य की प्रतिष्ठा, जो अपने चारों ओर के समाज का विरोध करने का बीड़ा उठाता है, उस सिद्धान्त के कार्यान्वयन की ओर संकेत करती है जो उस समाज से श्रेष्ठ होता है। कृतज्ञता-बोध की व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान की पदावली (टर्म्स) में कठिन है। लुडविग विटगेंस्टाइन कहते हैं: "अगर सारे संभव वैज्ञानिक प्रश्नों के उत्तर मिल जाते, तब भी हमारे अस्तित्व की समस्याएँ अछूती ही रह जातीं।"

तत्त्वमीमांसक उपपत्तियाँ मानवीय संरचनाएँ हैं, विश्व-प्रकृति की व्याख्याएँ हैं, और दत्त सामग्री द्वारा उनकी पर्याप्तता की जाँच होती है और इस आधार पर भी कि वास्तविक विज्ञान से जुड़ने की उनकी क्षमता कितनी है। वे केवल अनुमान नहीं हैं, अनुभव की व्याख्याएँ हैं। वैज्ञानिक उपपत्तियों के मामले में, हम उनके परिणामों की ही जाँच कर सकते हैं, जहाँ तक कि उनकी गणना और उनका परीक्षण संभव हो। हम विद्युत्-शक्ति, गुरुत्वाकर्षण और सापेक्षता का प्रेक्षण नहीं करते, लेकिन यह हिसाब लगा लेते हैं कि अगर ये सही हैं तो सावधानीपूर्वक निर्धारित स्थितियों में क्या प्रेक्षित किया जाएगा, और तब सत्यापन करते हैं कि उन्हें सचमुच प्रेक्षित (आब्ज़र्वड) किया गया या

का अनुभव करता हूँ। जैसे, मेरे सामने यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है कि जब लोग यह कहते हैं कि वे पाप-भावना के बोध के अन्तर्गत काम करते हैं, तो उनका आशय क्या होता है; फिर भी मैं इसमें संदेह नहीं करता कि कुछ मामलों में यह एक खरा अनुभव होता है, और जो इसे प्राप्त करते हैं वे इसे ख़ासा महत्त्वपूर्ण भी मानते हैं, और हो सकता है कि यह सचमुच अत्यंत नीति-शास्त्रीय और तत्त्व-मीमांसक महत्त्व का हो। मैं यह अनुभव करता हूँ कि ये व्यावहारिक और भावात्मक सीमाएँ मुझे नैतिक अनुभव के कुछ खास पक्षों के प्रति अंधा बना सकती हैं। फिर भी, ऐसे लोग, जिन पर हर विषय को तीव्र प्रतिक्रिया होती है, वे पूरे ढाँचे में इसके महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर सोच सकते हैं। अच्छे आचरण द्वारा नियंत्रित धर्म-परायणता या न्याय-परायणता बड़ी अच्छी चीज़ है, लेकिन इसी के पीछे पड़े रहना आध्यात्मिक मधुमेह का लक्षण है।"

नहीं। यह अप्रत्यक्ष सत्यापन (वेरीफ़िकेशन) है। तत्त्वमीमांसक उपपत्तियों का ऐसा सत्यापन संभव है। एफ़० एच० ब्रैडले कहते हैं: "जो हो सकता है, अगर उसे होना है, तो वह है।" तर्कशास्त्रानुसार आवश्यकता यथार्थ की प्रकृति के लिए संकेत (क्लू) है।

वैज्ञानिक उपपत्तियाँ यथार्थ का रूपान्तर नहीं हैं। वे हमारे, यथार्थ-अनुभव को व्यवस्थित करने के तरीक़े हैं। एक ओर भौतिक दुनिया के हमारे ज्ञान के पीछे हमारा अनुभव है, और दूसरी ओर उपपत्ति (थ्योरी), जो हमारी रचना है। इन्द्रिय-अनुभव या तर्कनापरक तर्कशास्त्र की तुलना में तत्त्वमीमांसा एक ज़्यादा मूलभूत निर्णय की ओर इंगित करती है। यह विज्ञान और तर्कशास्त्र की पूर्वकल्पनाओं में उपलक्षित कारणों और सीमाओं का मूल्यांकन करती है।

विज्ञान में जिस तरह के प्रमाण काम में लाए जाते हैं वे धर्म के प्रमाणों (प्रूफ़्स) से भिन्न नहीं हैं। जहाँ हम सिद्ध नहीं कर पाते वहाँ विश्वास करते हैं। आस्था का यह तत्त्व चिंतन के किसी भी क्षेत्र में अपरिहार्य है। बिना एक कार्यकारी प्राक्कल्पना (वर्किंग हाइपॅथीसिस) को अपनाए हमारा मस्तिष्क असहाय और गूंगा है। हम कार्यकारी प्राक्कल्पना को जाँचने के लिए प्रयोगों का सहारा लेते हैं। धार्मिक विचार भी जाँचे-परखे जाते हैं और उन पर निर्णय दिये जाते हैं—उन लोगों के अनुभवों के आधार पर जो उन्हें जीते और अपनाते हैं। सत्य की खोज के उद्देश्य में इनमें एक सारभूत समानता है। विज्ञान और धर्म प्रतिरोधी या विलग रहें यह आवश्यक नहीं है।

इनके बीच का विवाद ज़्यादातर एक-दूसरे को न जानने के कारण खड़ा होता है—विज्ञान के तरीकों को ग़लत समझने और धर्म की गहरी अन्तर्दृष्टि को न पकड़ पाने के कारण। आपसी सद्भावना बढ़ रही है और हम धीरे-धीरे यह अनुभव कर रहे हैं कि धार्मिक सत्य अन्यतम रूप से वैज्ञानिक है।

कुछ ऐसे तत्त्व-ज्ञानी हैं जो यह दावा करते हैं कि वे भी प्रयोग-सिद्धवादी हैं—जहाँ तक वे अपने अस्तित्व को लेकर अस्तित्व के बारे में विचार करते हैं। वे सभी इस मूलभूत आधार-सामग्री से प्रारंभ करते हैं कि कुछ ऐसा है जिसका अस्तित्व है।

यही नहीं, निश्चयवाद या वास्तविकतावाद धर्म की प्रकृति और उद्देश्य को जादू के चंगुल से छुड़ाते हैं, इसे अन्धविश्वास और पौराणिकता के साथ जुड़ने से बचाते हैं, जिनके साथ इसे पहले जोड़कर देखा जाता रहा है। लेकिन धर्म के सुधार-विरोधी सिद्धान्त से हमें स्वतंत्र करते हुए, इसे विज्ञान का सुधार-

विरोधी सिद्धान्त नहीं बन जाना चाहिए, जो स्वयं विज्ञान के ऊपर यथार्थता और सत्यापन के ग़लत विचार लादकर उसे विकृत करता है।

: ३ :

अगर स्वर्ग ईश्वर का यश बखानते हैं तो मध्यस्थ प्रकृति होती है। हम अव्यवहित तक व्यवहित द्वारा पहुँचाते मूल बात कि कोई विश्व है ही, कि किसी चीज़ का अपने गुणों और सम्बन्धों के साथ अस्तित्व है, जिज्ञासा के लिए प्रेरित करती है। यह कैसे है कि कुछ न होने की बजाय कुछ है। परमेनीडीस ने यह सवाल किया, '"कुछ नहीं' क्यों नहीं है ?"' अस्तित्व, बिना किसी तर्क और सफ़ाई के पहले से ही मौजूद है। अपने किन्हीं या सभी रूपों में अस्तित्व निःशेष नहीं हो जाता, यद्यपि अपने प्रत्येक रूप में यह विद्यमान रहता है। संसार में व्यवस्था है, रूपरेखा है और प्रमाणित प्रयोजन है इसलिए संसार को विवेकहीन पदार्थ नहीं माना जा सकता। विश्व-व्यवस्था, सौंदर्य, गति और आयत्तता ईश्वर के होने के प्रमाण हैं, और किसी तरह के भौतिकवाद के विरुद्ध खड़े होते हैं। विश्व समझ में आ सकता है, इस 'आविष्कार' के द्वारा हम सत्य तक पहुँचते हैं।

भौतिकवाद वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि विश्व की सभी बातों की व्याख्या पदार्थ और गति के पदों में संभव है। जीव-विज्ञानीय प्रतिभासों को घटाकर भौतिक-रासायनिक पदों में घसीट लाया जाता है। तंत्रिकाविज्ञानी (न्यूरोलॉजिस्ट) मानते हैं कि सभी मानसिक प्रक्रियाओं की व्याख्या भौतिकी और रासायनिक-शास्त्र के पदों में की जा सकती है। वे जानते हैं कि चैतन्यता और अचेतनता में एक अन्तर है और चूँकि वे विज्ञान के पदों में इसे नहीं समझा पाते, इसीलिए इसके अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। चैतन्यता एक अनावश्यक प्राक्कल्पना है। यह प्रेक्षणीय आधार-सामग्री नहीं है। यह कहा जाता है कि हम चैतन्यता की धारणा का प्रयोग करते हैं जबकि ऐसी कोई चीज़ नहीं है।[१]

हम चेतनता को वस्तु नहीं मानते बल्कि यह वह चीज़ है जो वस्तुओं को देखने में हमारी मदद करती है। यह प्रेक्षणीयता का एक नाम है। यह कोई वस्तु नहीं है, न ही वस्तु का कोई गुण। अगर प्रेक्षणीयता और चिन्तन हैं तो कोई प्रेक्षक और चिंतन करने वाला भी ज़रूर होगा।

---

१. 'डाउट एण्ड सर्टेनिटी इन साइंस' पर दिये गए अपने रीथ व्याख्यानों में प्रोफ़ेसर जे० ज़ेड० यंग चेतनता को बिलकुल ही अस्वीकार करते हैं, क्योंकि चेतनता अगर सामान्य अर्थ में कोई वस्तु होती, तो दूसरी किसी वस्तु की तरह यह भी प्रत्यक्ष रूप में देखी जा सकती। चूँकि यह नहीं देखी जा सकती इसलिए वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इसे 'अलौकिक गुण' के रूप में ज़रूर अस्वीकार करना चाहिए।

यूनान की तरह, भारत में भी, हमारे पास भौतिकवादी व्यवस्थाएँ थीं। वे ऐसा मानते हैं कि शून्य में बड़े वेग से चक्कर काटते असंख्य अणुओं के आकस्मिक मिलन से ही यह दुनिया और दूसरी दुनियाएँ अस्तित्व में आई हैं। पदार्थ सोचता है। ईश्वर नहीं है। मनुष्य के लिए भविष्य का कोई जीवन नहीं है। मृत्यु समाप्ति है। जो कुछ भी है भौतिक है। इन्द्रिय-चाक्षुषता ही ज्ञान का आधार है। जीवन में आनन्द ही वांछित है और मनुष्य की पहुँच के बाहर नहीं है। कोई दूसरा लोक नहीं है और मृत्यु सब-कुछ की समाप्ति है।[1] नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के साथ मनुष्य के उभरने और उसके प्रगतिशील विकास को भौतिक प्राक्कल्पना द्वारा आँकना कठिन है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को प्राकृतिक भौतिकवाद का विकास बताया गया है। इसकी दृष्टि में पदार्थ निश्चल न होकर गत्यात्मक है। इस विचार के लिए मार्क्स हेगेल के ऋणी हैं। हेगेल के अनुसार द्वन्द्वात्मकता उस विचार का विकसित रूप है जो अपनी परस्पर-विरोधी या विरोधी उपपत्तियों पर विजय से प्रभावित हुआ है। इस प्रक्रिया के द्वारा हमें एक व्यापक संश्लेषण मिलता है जो स्थापना (थीसिस) और स्थापना-विरोध (एंटीथीसिस) में रखे गए परस्पर-विरोधी विचारों को ग्रहण कर संधि और समाधान ढूंढ़ लेता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में प्रकृति की विरोधी शक्तियाँ तर्कशास्त्रीय प्रतिकूलता का स्थान लेती हैं। प्रकृति में विकास की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कई अमहत्त्व-पूर्ण मात्रामूलक परिवर्तन सहसा गुणभेदक परिवर्तनों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। तापमान के अलक्षित परिवर्तनों के कारण पानी बर्फ या भाप में बदल जाता है। अगर प्रकृति का विकास विरोधी तत्त्वों का संघर्ष है तो सामाजिक क्रांतियाँ वर्ग-संघर्ष को व्यक्त करती हैं। "प्रताड़ित वर्गों द्वारा की गई क्रांतियाँ बिलकुल स्वाभाविक और अपरिहार्य फिनोमिना हैं।" हालाँकि सामाजिक विचार जीवन की भौतिक स्थितियों की उपज हैं, लेकिन वे भौतिक स्थितियों पर भी प्रतिक्रियाँ व्यक्त करते हैं। मार्क्स कहते हैं: "उपपत्ति या विचार ज्योंही जन-समुदाय को अपनी पकड़ में ले लेता है—प्रभावित कर लेता है—त्योंही वह एक भौतिक शक्ति बन जाता है।" यह क्रांतिकारियों का काम है कि वे विचारों को फैलाएँ और उन्हें कार्य-रूप में परिणत करें।

हम तर्कशास्त्रीय प्रतिकूलताओं को प्रकृति की विरोधी शक्तियों के साथ मिलाकर नहीं देख सकते। प्रकृति में फिनोमिना जिस तरह घटता है, उससे हम

---

१. देखिए, राधाकृष्णन: 'इंडियन फिलासफ़ी', खण्ड १, अध्याय ५।

यह निगमन नहीं कर सकते कि मनुष्य को किस तरह व्यवहार करना चाहिए। द्वन्द्वात्मक तर्क, विचार के साथ संभव है, पदार्थ के साथ नहीं।

: ४ :

सभी तत्त्व-ज्ञानी, जो अनुभव के तथ्यों को आंकने का प्रयास करते हैं, भौतिकता को अन्तिम सत्य के रूप में नहीं अपनाते। जरूरी नहीं है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण भौतिकता की ओर ले जाए। यही नहीं, दुनिया के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सीमित है। शुरुआत और अन्त का पता नहीं है। हम केवल मध्य को, जो बहाव में है, जानते हैं। विश्व का एक व्यापक यथार्थ ज्ञान पा लेना कठिन है। मनुष्य विश्व की समग्रता को नहीं जानता। यह भी कि वैज्ञानिक प्रेक्षणीयता हमें यह बताती है कि पौधे को अपनी बाढ़ के लिए धूप की जरूरत होती है, लेकिन प्रेक्षणीयता हमें यह नहीं बताती कि उसे धूप की ज़रूरत क्यों पड़ती है। ब्यौरे हमें वस्तुओं और घटनाओं के प्रेक्षणीय लक्षण बताते हैं। व्याख्याएँ दत्त-सामग्री को आंकने का प्रयास करती हैं। वे उन नियमों को निर्धारित करने का प्रयास करती हैं, जिनके अनुसार घटनाएँ घटती हैं। जिसे वैज्ञानिक ढंग कहते हैं और जो मनुष्य द्वारा ईजाद सबसे शक्तिशाली औज़ार है, उसमें हम दोनों चीज़ें पाते हैं—प्रत्यक्ष प्रेक्षणीयता और व्याख्यात्मक उपपत्तियाँ या टीकाएँ। वैज्ञानिक खोज के सभी नतीजों के बावजूद जीवन रहस्य बना हुआ है। हम अपने अस्तित्व के सर्वव्यापी रहस्यों का सामना कर ही दुनिया के बारे में सही तौर पर जान सकते हैं। ज्ञान के दो भिन्न क्षेत्र हैं—तथ्यों का क्षेत्र और मूल्यों का क्षेत्र। ज्ञान के अलावा हम चीज़ों को आंकते हैं और उनके प्रति श्रद्धालु भी होते हैं। ये दोनों बातें आदमी की समग्र चेतना की आत्मिक अनुभूतियों की देन हैं। वास्तविकता के प्रति यह एक समग्र प्रतिक्रिया है। तत्त्व-ज्ञान वाले सत्य में आत्मिक सोच और समझ की क्रिया जुड़ी हुई है। लाएड मारगन, बर्गसाँ, एलेक्ज़ेंडर और ह्वाइटहेड जैसे वैज्ञानिक तत्त्व-ज्ञानियों का दावा है कि वे अनुभव के आधार पर चलते हैं और उनके सिद्धांतों का उद्देश्य निरीक्षण में आने वाले तथ्यों का उद्घाटन करना है। उनका कहना है कि तात्त्विक यथार्थ तक पहुँचने के लिए एक प्रयोग-सिद्ध मार्ग है। ये लोग प्रयोग-सिद्ध-पद्धति के तत्त्व-ज्ञानी हैं। ये केवल तथ्यों का ही वर्णन नहीं करते, वरन् उनके कारणों व अस्तित्व पर भी प्रकाश डालते हैं। रहस्य को उजागर करने का यह एक अन्त-हीन प्रयास है। किसी चीज़ को भाग्य या संयोगवश बताना कोई सफ़ाई नहीं है।

तैत्तिरीय उपनिषद्[१] विश्व-प्रक्रिया में पदार्थ, जीवन, मस्तिष्क, ज्ञान, बुद्धि व आत्मा में भेद करता है। लीबनीज़ के शब्दों में विश्व में कुछ भी बंजर, अनुत्पादक और मृत नहीं है। और बहुत विषम फासले नहीं हैं। एक चीज़ से दूसरी चीज़ का जो फ़र्क है वह इतना सूक्ष्म है कि उनके बीच फ़र्क को स्पष्ट करने वाली सीमा निर्धारित करना असंभव है। प्रकृति में सब चीज़ें एक-दूसरी से जुड़ी हुई हैं। सभी प्राणी एक ऐसी शृंखला से जुड़े हुए हैं जिसके कुछ हिस्सों की कड़ियाँ हम देखते हैं और कुछ हमारी दृष्टि में नहीं आते। प्रकाश और अन्धकार दो अलग चीज़ें हैं। पर हम यही नहीं जानते कि कब अन्धकार प्रकाश में बदल जाता है और प्रकाश अन्धकार में।

चीनियों के लिए प्रकृति या ताओ सर्वव्यापक रहस्य है। यह एक आकस्मिक शक्ति है जो समग्र जगत् को संचालित व नियंत्रित करती है। इसका कोई नाम नहीं है, हालाँकि यह सारे जीवन व अस्तित्व का स्रोत है। स्वर्ग व पृथ्वी की उत्पत्ति के पहले कुछ निराकार होते हुए भी पूर्ण था···इसका वास्तविक नाम हम नहीं जानते : "हम इसको किसी भी नाम से पुकारते हैं ताकि हम इसे अभिव्यक्त कर सकें।"[२] ताओ में पुरुष व स्त्री सिद्धान्त हैं—इन और यान। अगर हम ताओ को प्रकृति के समकक्ष रखें तो पुराने चीनी दार्शनिक इस बात को पुष्ट करते जान पड़ते हैं कि प्रकृति का एक अंग उससे परे है—स्वर्ग या 'तियेन'। हम अन्तिम रहस्य को भेद नहीं सकते। सच्चा सन्त स्वर्ग को जानने की कोशिश नहीं करता। हम इसे जी सकते हैं पर इसे जान नहीं सकते। चीनी दार्शनिक प्रकृति की गरिमा और उसके रहस्य से बहुत ज़्यादा प्रभावित थे। जगत् का इतिहास अपेक्षाकृत एक सहज स्थिति में शुरू हुआ था जो युगों के बीतने के साथ ज़्यादा फैलता गया है। लाएड मारगन ने उदय के सिद्धान्त को माना है। कुछ मामलों में जब एक संश्लिष्टि के तत्त्व एक ख़ास क़िस्म के ढाँचे में संयोजित होते हैं तो एक नये संश्लेषण का जन्म होता है, जिससे एक ऐसा गुण दीखता है जिसका आभास सम्मिलित तत्त्वों के ज्ञान से नहीं मिल सकता। यह अत्यंत नया गुण है।

यह कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है जिसे संश्लिष्टि के अन्य तत्त्वों से अलगाया जा सके। यह समग्र संगठित ढाँचे का परिणाम है। जब एलेक्ज़ेंडर मस्तिष्क की बात एक उभारने वाले गुण के रूप में करता है तो एक तरह से उसका आशय यह है कि यह स्नायु-प्रक्रियाओं के संयोजित रूप के समान है।

१. देखिए, राधाकृष्णन : 'द प्रिंसिपल उपनिषद्', पृ० ५२६।
२. ताओ ते चिंग-१२५।

इनसे परे या इनके ऊपर कोई विशुद्ध मानसिक तत्त्व नहीं है। स्नायविक प्रक्रियाओं के कुछ खास संयोजन एकदम ही नये गुण की अभिव्यक्ति करते हैं—जागरूक चेतना। यद्यपि यह अपनी स्नायविक शरीर-क्रिया के गुणों से संबद्ध है, परन्तु इसको, इसके कार्य-व्यापार के अपने गुणों के आधार पर ही समझाया जाना चाहिए। एलेक्ज़ेंडर के अनुसार मस्तिष्क ही सबसे बड़ा उद्बोधक गुण नहीं है। किसी भी आकांक्षा के प्रति एक धार्मिक भावना की सतत लगन, यह एहसास कि हम ऐसे विश्वों में विचर रहे हैं जिनका पार नहीं पाया गया है, यह सुझाता है कि मस्तिष्क से परे भी एक ऊँची चीज़—गुण—है। एलेक्ज़ेंडर इसे दैवी कहते हैं। दैवी, दूसरा सबसे बड़ा उद्बोधक गुण है जिसे जन्म देने के लिए जगत् क्रियाशील है। जगत् ऐसे प्राणियों को पैदा कर रहा है जोकि दैवी गुणों के वाहक हैं, जैसे कि हम मस्तिष्क के वाहक हैं। इसका उद्देश्य देव-तुल्य प्राणियों को जन्म देना है। ब्रह्मांड-प्रक्रिया मूल्य-निर्माण की प्रक्रिया है।

एलेक्ज़ेंडर के अनुसार ईश्वर एक समग्र अनन्त जगत् है जिसमें पदार्थ, जीवन और मस्तिष्क का उदय हो गया है और जो इनसे भी ऊँचे दैवी गुण अपने गर्भ में छिपाए है। इस अर्थ में, ईश्वर समग्र-जगत् है जो नये गुण की ओर बढ़ रहा है। धार्मिक भावना की यह सतत् लगन हमारी अनुभूतियों की प्रमाण-सिद्ध साक्षी है कि हम इस धारा में जुड़े हुए हैं और दैवी गुणों के प्रति अपने रुझान से जगत् हमारे मस्तिष्क का, इस दिशा में पोषण करता है। एलेक्ज़ेंडर इस धारा को दिक्काल का Nisus कहते हैं। ऊपर छलाँग मारने वाली बात—Nisus—की उपस्थिति हम मानते हैं। जगत् एक रचनात्मक प्रक्रिया है, जहाँ विभिन्न स्तरों पर विभिन्न स्थितियाँ पैदा होती हैं। इस रचनात्मकता और विकास के इस महत् कार्य के लिए केवल दिक् और काल को कारण बताना काफ़ी नहीं है। ये अपने-अपने खास स्तरों पर नये गुण पैदा करने वाले संगठित व्यवस्थाओं के कारणों पर प्रकाश नहीं डाल सकते। एलेक्ज़ेंडर जब रचनात्मक रुझान या Nisus की बात करता है तब इसे स्वीकार करता है। क्षणिक क्रमबद्धता कोई रचनात्मक प्रगति नहीं है। मुद्दा यह है कि प्रकृति ने संयोजित ढाँचों की एक कड़ी पैदा की है, जिसमें संयोजन के नये स्तर, नये गुण और संचालन की नई शक्तियाँ पैदा की हैं। यह सारी प्रक्रिया रचना के रहस्य को और भी गहराती है। डिस्कार्टेस की राय है कि ईश्वर के अस्तित्व को तर्क-सम्मत रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है, पर पास्कल यह मानता है कि ईश्वर एक छिपी हुई शक्ति है जो कि प्रकृति के नियमित क्रिया-कलापों में नहीं वरन् असाधारण व रहस्यात्मक प्रसंगों में उद्घाटित करता है। हमें या तो

एक दैवी प्रकटीकरण उपलब्ध है, नहीं तो एक ईश्वरविहीन जगत्। जो चुने हुए लोगों के निकट अपने को प्रकट करता है और जो अपनी इच्छानुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने बारे में परिचित कराता है, वह ईश्वर एक ऐसा ईश्वर है जो अन्यथा ईश्वरहीन लगने वाले संसार में सहसा घुस आता है।

कुछ धर्मशास्त्री हमारे प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञान की खामियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं और मानते हैं कि ये खामियाँ इस वजह से हैं कि वे ईश्वर की रचनात्मक क्रियाओं का विशेष क्षेत्र हैं। यह एक खतरनाक तरीका है, क्योंकि जैसे-जैसे हमारा ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे हमारे ज्ञान की खामियाँ कम होती जाती हैं और दैवी क्रिया-कलापों का दायरा सिकुड़ता जाता है और ईश्वर को परे कर दिया जाता है। प्रकृति और इतिहास की कठिन समस्याओं का कारण यह बताना कि उनमें ईश्वर का हाथ मालूम पड़ता है, भ्रम पैदा करना है। दो अलग सत्ताएँ नहीं हो सकतीं। एक वह जिसमें कि आत्माहीन प्रकृति स्वतः कार्य करे और दूसरी वह जिसमें कि ईश्वर मनमाने ढंग से खामियों को दूर करने के लिए अपने रचनात्मक क्रिया-कलापों द्वारा हस्तक्षेप करे। जगत् एक निर्जीव फैलाव नहीं है जिसमें ईश्वर उपयुक्त अवसरों पर जीवन भरता हो। यह मनुष्य के ही निर्माण की प्रक्रिया में है। आदिकाल की नीहारिका से आधुनिक मानव तक का विकास निरन्तर है जिसमें कोई अचानक रुकावटें नहीं आईं। मानव प्रकृति की सर्वोच्च रचना है। पदार्थ के सहज-से-सहज टुकड़ों में जो महान् रचनात्मक प्रक्रिया पहले से जुड़ी मालूम होती है वह मानव में एक निर्णायक स्थिति पर पहुँचती है। श्रेष्ठ का घटित होना अभी भी बाकी है। और मानव को अभी भी बहुत-कुछ सीखना है। मानव विकास की प्रक्रिया को जानता है और उसको आगे बढ़ाने के लिए जागरूक भाव से प्रयत्न करता है। विकास की लम्बी प्रक्रिया, लौकिक गठन, जीवन की उत्पत्ति, मस्तिष्क का निर्जीवता से उभरने का संघर्ष, बुद्धि का विकास और बुद्धि से भी परे कुछ और बड़े होने के एहसास—ये केवल संयोग मात्र नहीं हैं। आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं कि ब्रह्मांड प्रक्रिया पदार्थ के मानव में उद्‌घाटित होने की एक अनवरत प्रक्रिया है। हमने देखा कि शुरू में शक्ति-पुंज से अणु और परमाणु की उत्पत्ति हुई, जब ठंडे पड़ने की प्रक्रिया शुरू हुई तब बहुत-से जीव, पदार्थ और जानवर पैदा हुए तथा लगातार होने वाले परिवर्तनों से मानव उठ खड़ा हुआ। जगत् का एक संरचनात्मक क़ानून है—प्रकृति का एक मूल सिद्धान्त। हम इस बात को महसूस करते हैं कि पदार्थ में अपने को अधिकाधिक पेचीदे रूपों में संगठित करने का रुझान है। कोई भी स्रोत अपने उदगम से ऊँचा नहीं उठता। 'मेरे प्रारम्भ में

ही मेरा अन्त है।' एक बुद्धिहीन जगत् में बुद्धिमान, सोद्देश्य प्राणियों का विकास नहीं हो सकता था।[1] इस जगत् के विकास के पीछे अस्तित्व का एक वास्तविक बोध, चेतना, सुख, सत्, चित् और आनन्द है। यह सब चीज़ों का आत्मन है—एक और सनातन। सभी प्राणी इस आत्मन में एकता-बद्ध हैं, लेकिन एक अलग चेतना के कारण अलग-अलग हैं। जो है या दीखता है वह अस्तित्व का वैभिन्न्य है जिसमें जो कुछ है या जो कुछ हो सकता है, वह निहित है। और जो इसके बावजूद कुछ ज़्यादा शुद्ध और किसी खास खत्म होती हुई चीज़ से ज़्यादा स्थायी और आवश्यक है। "तुम मुझे अच्छा क्यों कहते हो, केवल एक ही अच्छा है और वह ईश्वर है।" हर अभिव्यक्ति अपूर्ण है क्योंकि वह आखिरकार अभव्यक्ति ही है। Ex-sistere शब्दानुसार, 'अस्तित्व का अर्थ है विशिष्टता अथवा झुंड से बाहर होना।' जीव की एकता से यह अलग है। यह अभिव्यक्ति के स्तर पर है। हर अभिव्यक्त चीज़ सापेक्षता में जड़ित है। माया वस्तुनिष्ठा वाली व अभिव्यक्ति वाली प्रवृत्ति है।

अगर निरपेक्ष की प्रकृति से अभिव्यक्ति-शक्ति को निकाल दिया जाए तो वह निरपेक्ष नहीं रह जाएगा।[2] प्रयोग-सिद्धता के वैविध्य और अस्तित्व के संसार की जड़ें निरपेक्ष में ही हैं। दैवी भी इससे जुड़ा है हालाँकि पूरी तरह इसमें समाहित नहीं है। हम विपरीत दिशाओं में हैं फिर भी अलगाव की मात्रा में नज़दीक हैं।

प्राकृतिक धर्मशास्त्र विश्व की व्याख्या आस्तिकता की पदावली में करता है। स्पिनोज़ा कहता है: "आदमी वैयक्तिक वस्तुओं को जितना ज़्यादा समझता है, उतना ही वह ईश्वर को समझने लगता है।" किसी सक्रिय बुद्धिमान आत्मा ने ही विश्व की योजना तैयार की होगी और उसे अस्तित्व दिया होगा। आस्तिकता के लिए साध्यपरक तर्क के आधारस्वरूप स्वर्गीय डॉ० एफ़० आर० टेनान्ट पाँच तरह के तथ्य प्रस्तुत करते हैं: (१) मानवीय चिन्तन-प्रक्रियाओं का उन वस्तुओं द्वारा अपनाया जाना जिनसे कि वे सम्बन्धित हैं, (२) प्रत्येक जीवधारी रचना में अंशों को पूर्णता के लिए अपनाया जाना, (३) जीवधारी

---

१. ताइलाहार्द दशारदी के लेखों से यह बात पुष्ट होती है।

२. एंजेल्स साइलेसियस:

> "मैं जानता हूँ कि बिना मेरे
> ईश्वर एक क्षण के लिए भी जीवित नहीं रह सकता
> अगर मैं मर जाऊँ
> तो फिर वह जी नहीं सकता।"

रचना के उत्पादन, संचालन और विकास के लिए प्रकृति के जीव-हीन अंग को अपनाया जाना, (४) प्रकृति की प्रतिष्ठा, उन्नति और सौंदर्य, (५) नैतिक कृतज्ञता की बातें, सामाजिक मूल्य आदि।" इन तर्कों के विरुद्ध ठोस आपत्तियाँ हैं। हम समकालीन विश्व के एक भाग के आधार पर पूरे की बात नहीं कर सकते। विश्व और उसका इतिहास कुल मिलाकर, अतुलनीय हैं और इसीलिए यह तर्क निराधार है। साथ ही हम समतुल्यता के आधार पर, सशरीर होते हुए भी यह तर्क देते हैं कि कुछ अशरीर मनस् सम्पूर्ण संसार में कार्यरत है।

प्रयोग-सिद्धि का विज्ञान हमें ईश्वर से सम्बन्धित ज्ञान नहीं देता। यह ईश्वर के अस्तित्व और लक्षणों—गुणों—को प्रमाणित नहीं करता। फिर भी हम ऐसा अनुभव करते हैं कि इस ब्रह्मांड-प्रक्रिया को कोई चरम यथार्थ प्रभावित करता है। विश्व ईश्वर के अस्तित्व की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, वह एक ऐसा परदा भी है जिसके पीछे ईश्वर बराबर छिपा रहता है। विश्व, जैसा कि उसे हम जानते हैं, एक गहरे यथार्थ की अभिव्यक्ति है जो मानव की ग्रहणशीलता से परे है। इस सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण को सबसे अच्छी तरह प्लेटो ने **फाइडो** में सिमिआस द्वारा मुखरित किया है :

"सुकरात मैं सोचता हूँ, जैसा कि शायद तुम खुद सोचते होगे कि ऐसी बातों के सम्बन्ध में हमारे वर्तमान जीवन में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना या तो असम्भव है या फिर बहुत ही कठिन। लेकिन यह भी कायरता है कि हम उनके बारे में कही गई बातों की जाँच न करें या खत्म हो जाने से पहले हर दृष्टिकोण से उनका अध्ययन करना छोड़ दें। क्योंकि हमें निम्नलिखित चीज़ों में से एक चीज़ करनी ही है; या तो हम दूसरों से उनके बारे में सत्य प्राप्त करें या फिर अपने-आप ढूंढ़ें, या अगर यह असम्भव हो, तो उनके बारे में जो सबसे ज़्यादा मानवीय दृष्टिकोण है, जिसे मुश्किल से असिद्ध किया जा सकता हो, उसे ग्रहण करना चाहिए और एक नाव की तरह इसका प्रयोग करके, ख़तरों का सामना करते हुए जीवन-यात्रा करनी चाहिए—जब तक कि कोई ज़्यादा शक्तिशाली जहाज, किसी दैवी सिद्धि से, यात्रा को ज़्यादा सुरक्षित और कम ख़तरनाक न बना दे।

केपलर ने अपनी पुस्तक 'डि हारमोनिया मुंडी' के अन्तिम खण्ड को इन शब्दों के साथ समाप्त किया है :

"ओ, हमारे रचयिता ईश्वर, मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ कि तुमने अपनी रचनाओं में मुझे सौंदर्य के दर्शन कराए। और तुम्हारे हाथों के कृतित्व को देखकर आनन्दित होता हूँ। देखो, यहाँ मैंने वह काम पूरा कर दिया है जिसके लिए, लगता है, मुझे बुलाया गया था। तुमने मुझे जो प्रतिभा दी थी उसका मैंने

भरसक उपयोग किया है। अपने अपूर्ण मस्तिष्क से मैं तुम्हारे कृतित्व की जो भी गरिमा ग्रहण कर सका उसका मैंने मनुष्यों के सामने बखान किया है, जो मेरे इन तर्कों—विचारों—को पढ़ेंगे।"

हमारे युग के महानतम वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने कहा :

"ब्रह्माण्ड का धार्मिक अनुभव वैज्ञानिक खोज का सबसे ज़्यादा शक्तिशाली और भला आधार है। मेरा धर्म उस अनन्त-श्रेष्ठ-आत्मा की विनम्र प्रशंसा से बना है, जो अपने को उन रूपों में उद्घाटित करता है, जिन्हें हम अपने अस्थिर और कमज़ोर मस्तिष्क से देख पाते हैं। एक उच्च विवेक-शक्ति की उपस्थिति के गहरे भावात्मक विश्वास, जो अपने को पकड़ में न आने वाले विश्व में उद्घाटित करती है, से ही मेरा ईश्वर-सम्बन्धित विचार बना है।

: ५ :

परम-सत्ता के विश्वास में, अशुभ—पापवृत्ति—की समस्या आड़े आती है, ऐसा बराबर माना गया है। ह्यूम का वक्तव्य इस मामले को इस तरह रखता है : "क्या वह (ईश्वर) अशुभ को रोकना चाहता है, लेकिन अक्षम है ? तब वह नपुंसक है। क्या वह सक्षम है, लेकिन चाहता नहीं है ? तब वह अहितकारी है। क्या वह सक्षम भी है, और चाहता भी है ? तब अशुभ क्यों, कैसे ? अशुभ की समस्या, अशुभ और कष्ट की समस्या ईश्वर में आस्था को नष्ट करती जान पड़ती है। नैतिक और प्राकृतिक पाप-वृत्ति के रहते हुए, ईश्वर के न्याय और उसकी साधुवृत्ति का यश हम कैसे ले सकते हैं—ईश्वर के कार्य, मानवीय प्रकृति के पाप, भूकम्प और कैंसर से लेकर हर चीज़ जो मानवता के लम्बे इतिहास में, धोखा देने वाली और भ्रष्टाचार की सृष्टि करने वाली रही हो—इनके आगे हम किस मुँह से ईश्वर की सराहना कर सकते हैं और उसका पक्ष ले सकते हैं। हम मानवता के सम्पूर्ण विनाश की संभावना के इतने पास जीवित हैं, कि हम उस ईश्वर में विश्वास नहीं कर सकते जो हमारी नियति को नियन्त्रित करता है।

जेनेसिस (Genesis) के अनुसार ईश्वर ने जगत् को सम्पूर्ण रूप से भला बनाया था और इडेन के बाग में इसके पहले निवासी भोले और दोष-रहित थे। साँप के कारण दुनिया में अशुभ और पाप-वृत्ति की शुरुआत हुई। लेकिन अलौकिक, भले और शक्तिशाली ईश्वर से अशुभ साँप का कोई मुकाबला नहीं है। हम अशुभ को अयथार्थ कहकर टाल नहीं सकते, भ्रम कहकर भले टाल दें। ईसाई धर्मशास्त्र ने मनुष्य के पतन की थ्योरी विकसित की। इसे सन्त आगस्टाइन ने स्वीकार किया, हालाँकि एलनिजेंसेज़ जैसे नास्तिकों ने संदेह प्रकट

---

१. 'दि यूनिवर्स एण्ड डॉ० आइंस्टीन' : लिंकन बारनेट०, पृष्ठ ९५।

किया। कालविन मानते हैं कि "सभी की रचना समान स्थितियों में नहीं हुई, कुछ के प्रारब्ध में शाश्वत जीवन है और कुछ के शाश्वत संताप।" यह दृष्टिकोण मध्ययुगीन ईसाई विचारकों ने अपनाया था। न्यूमैन मूल पाप को 'आदिम दुर्भाग्य' की संज्ञा देते हैं। क्या ईश्वर ही पापवृत्ति का स्रष्टा है या ईश्वर के समान या उसके समानांतर कोई और शक्ति है ? क्या शैतान-ईश्वर-सम्बन्धी द्वैत सत्य है ? शैतान-ईश्वर-सम्बन्धी द्वैत मानता है कि जगत् की सृष्टि ईश्वर ने नहीं की थी बल्कि पापवृत्ति (Evil) के राजकुमार ने की थी। भौतिक पदार्थ पूरी तरह भ्रष्ट है हालाँकि हममें से हरेक में दैवी प्रकाश का एक अंश क़ैद है। प्रकाश की शक्तियाँ अंतिम विजय का कोई आश्वासन नहीं देतीं; अंत में पापवृत्ति की विजय हो सकती है। इस तरह का द्वन्द्वात्मकवाद हमें ऐसा ईश्वर प्रदान करता है जो लौकिक और सीमित है और जो सर्वशक्तिमान नहीं है।

पापवृत्ति और कष्ट हैं, यह बात निश्चित है। हम उन्हें मात्र अभावात्मक कहकर एक ओर नहीं फेंक सकते। हमारे पास बहुत-से अर्थहीन कष्ट हैं, आशाहीन दुःख हैं।

सिर्फ़ उन्हीं प्राणियों में श्रेष्ठतम मूल्य हो सकते हैं, जो चुनाव करने में सक्षम हों, और जो कुछ वे चुनते हों उसके लिए नैतिक उत्तरदायित्व महसूस करते हों। ऐसी नैतिक ज़िम्मेवारी तब तक असंभव है जब तक हमारे पास विकल्प न हों, जिनमें से दूसरों की बनिस्बत कुछ कम अच्छे और कुछ ज्यादा बुरे होंगे। अगर मनुष्यों को उच्चतम मूल्यों के योग्य बनना है, तो हमें उन्हें 'ग़लत' चुनाव करने की छूट देनी चाहिए। यह हम पर निर्भर करता है कि हम अपने लिए सही चुनाव करें।

विश्व स्वतन्त्र पुरज़ों की मिलाकर बनाई गई मशीन की तरह नहीं है, यह विकास के सिद्धान्त से चालित आंगिक व्यवस्था की तरह है। सदियों से एक व्यापक सृष्टि अपने को उद्घाटित कर रही है। विश्व स्वतन्त्र चेतनाओं की अभिव्यक्ति की ओर बढ़ रहा है, जिनमें मनुष्यों की आत्माएँ अपने को उद्घाटित कर रही हैं।

कुछ अस्तित्ववादी दृढ़तापूर्वक यह कहते हैं कि मनुष्य के पास वरण की स्वतन्त्रता का अभिशाप या वरदान है। दूसरों के बीच केवल मनुष्य ही विविध संभावनाओं में से अपने लिए चुनाव कर सकता है। जब आदमी सचमुच मानवीय होता है तो वह इस स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लेता है और अपने को एक जीवन-पद्धति के प्रति प्रतिबद्ध कर बेकली और निराशा से छुटकारा पा लेता है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार पापवृत्ति विकासवाद के क्रम में आने वाली उपजात है, जो पदार्थ में निहित आध्यात्मिक उद्गम के प्रतिकार से जन्म लेती है। यह मनुष्य के पतन का फल नहीं है, बल्कि उसके उत्थान का, उसके क्रमिक आरोहण का फल है। विश्व में कष्ट इसीलिए है, क्योंकि विश्व विकास की स्थिति में है। मानवीय प्रयत्न का एक मूल्य है, जिसे कष्ट ऊपर उठाते हैं विश्व के अपने विकास के भीतरी संकटों से संघर्ष करना पड़ता है। कई व्यक्ति अपनी ऊपरी उड़ान में बीच में ही हार जा सकते हैं। इस प्रयत्न में सफलता पाने के लिए पीड़ा और कष्ट आवश्यक हो उठते हैं। विश्व के विकास में किसी चीज़ को छोड़ा नहीं जा सकता। विश्व-प्रक्रिया निरन्तर खोज और निरन्तर प्रयत्न का ही दूसरा नाम है। विश्व असफलताओं द्वारा विकसित होता है। पीड़ा वह मूल्य है जो हम विकास के लिए चुकाते हैं। कष्ट आगे बढ़ने की शक्ति को छिपाते-दबाते हैं। सन्तों का कष्ट रचनात्मक है और हमें चेतना के राज्य की ओर ले जाता है, विश्व प्रगति की ओर, जिसके लिए उसकी (विश्व की) सृष्टि हुई है। मानवीय जीवन पापवृत्ति को स्थायित्व प्रदान करता है। अच्छे मनुष्यों के होने का मतलब है कि बुरे मनुष्य भी हैं, और इसीलिए पापवृत्ति और कष्ट भी। अगर कोई कष्ट, कोई पापवृत्ति और कोई अपूर्णता न होती तो मानवीय कार्य-व्यापार में कोई भी उद्देश्य न रह जाता। पूरा जीवन पीड़ा और पापवृत्ति के विरुद्ध एक संघर्ष है और बिना पापवृत्ति के कोई जीवन न होता। प्रत्येक कार्य के पीछे यही इच्छा काम करती है कि पीड़ा और पापवृत्ति से बचा जाए।

जहां तक शारीरिक पापवृत्ति का सवाल है, विश्व नैतिक चरित्र के विकास का शिक्षक नहीं हो सकता था, जब तक कि मनुष्य के शरीर और उसके चारों ओर के माहौल में सामान्य नियमों को मानने वाली, स्थायी सम्पत्ति की वस्तुएँ न होतीं। अगर चैतन्य प्राणियों के शरीर और उनका माहौल इस प्रकृति का है तो यह भोले मनुष्यों और पशुओं के लिए कभी कष्टदायक बनेगा ही। इस तरह के कष्ट ईश्वर, अंत या माध्यम के रूप में, देना नहीं चाहता। ईश्वर इसे एक ही स्थिति का आवश्यक और समान रूप से फल देने वाला मानकर सहन करता है, जिसके भीतर रहकर स्वतन्त्र-चेता व्यक्ति नैतिक गुणों को विकसित कर सकते हैं और अपने लिए चुनाव कर सकते हैं। विश्व सुख का उद्यान नहीं है, यह नैतिक व्यायामशाला है।

पूरी समस्या ईश्वर को मनुष्य-रूप मानने वाले दृष्टिकोण की है। अगर ईश्वर एक जीवित व्यक्ति है, तो उसमें भी पापवृत्ति ज़रूर होगी। यह तभी

संगत है जब ईश्वर को मनुष्य मानें। हम ईश्वर को मनुष्य तत्त्वों से सम्पन्न मानने वाले सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं और दैवी प्रकाश की ओर इस रूप में देखते हैं मानो उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, और वह मानवीय दृष्टि को चौंधिया देने वाला है। डायोनीशियस, द आरयोपज़ाइट हिन्दू और बौद्ध चिन्तन की भावना की तरह ही कहता है: "ईश्वर न तो अस्तित्व वाली श्रेणी में आता है और न अनस्तित्व वाली श्रेणी में।"

: ६ :

विश्व का विकास, भौतिक अवस्था से जीवन में, जीवन से पशु-चेतना में, पशु-चेतना से मानवीय बुद्धि में हुआ है। अब इसे अवश्य ही मानवीय बुद्धि के स्तर से आध्यात्मिक अवस्था तक प्रगति करनी है, क्योंकि बुद्धि के प्राप्त होने से ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया रुक नहीं गई है। मनुष्य की चक्र-प्रकृति में एक विकासी-क्रम अब भी है। व्यक्ति की आत्मा को अवश्य ही विकसित होना है। धर्म का उद्देश्य, इस विश्व की विभाजित चेतना, कलह और द्वन्द्वों से हमें ऊपर उठाकर सामरस्य, स्वतन्त्रता और प्रेम की दुनिया विकसित करने में हमारी मदद करना है।

भारत में, हम यह कहते हैं कि हमें अपनी प्रकृति को बदलना चाहिए और हमें दासत्व तथा अज्ञान की प्रेरणाहीन स्थिति से उठकर ज्ञान की स्थिति प्राप्त करनी चाहिए। यह धार्मिक खोज है। प्राणी की विश्रृंखलता से उठकर हमें प्राणी की संयुक्तता तक पहुँचना चाहिए। बुद्ध ने भी इसे प्रतिध्वनित किया था और इज़ेकिएल ने भी:

"स्वामी ईश्वर ने कहा—मैं तुम्हारे भीतर एक नई चेतना भरूँगा; और मैं उनके शरीर से पाषाण-हृदय को निकाल लूँगा और मांस का एक हृदय दूँगा।" 'कहावतों' के अनुसार, "मनुष्य की चेतना ईश्वर की ज्योति है।"

आर्फियस का विश्वास था कि "आत्मा जगमगाते स्वर्ग का पुत्र है," और इसका स्वभावगत उद्देश्य ऐहिक जीवन से ऊपर उठना था। इसी तरह 'प्लेटो', 'एलिगरी ऑफ़ दि केव' (अंग्रेज़ी अनुवाद) में यह कहते हैं कि बहुत-से लोग ऐसे प्रकाश से गिरती छायाओं को यथार्थ मानकर विश्वास कर लेते हैं, जिस प्रकाश को वे ख़ुद नहीं देखते। एक दार्शनिक, जो गुफा के बाहर आता है, प्रकाश को, चरम-सत्ता को, देख सकता है। इसके बाद उसे गुफा में अवश्य वापस आना चाहिए और बताना चाहिए कि यथार्थ वास्तव में है क्या, हालाँकि इस बात का संभावनाएँ हैं कि ऐसा करने पर उसे पागल समझा जाए। सिद्ध-पुरुषों के साथ यही बात होती है। फिर भी समय आने पर, दार्शनिक दूसरे

लोगों को ज्ञान-प्रेम का पाठ पढ़ाएगा, जोकि निर्मलता का फूल है।

ईसा कहते हैं कि जब तक हमारा पुनर्जन्म नहीं होता, हम चेतनता के परिवर्तन (Metaroia) की पीड़ा नहीं भोग लेते, तब तक हमारी रक्षा नहीं हो सकती। चौथे गॉस्पेल में ईसा कहते हैं, "मैं ही सत्य हूँ।" हमसे यह अपेक्षा की जाती है कि हम ईसा का अनुसरण करें। हमें उनकी तरह बनना होगा—अपनी स्वभावगत इच्छाओं और आकांक्षाओं को सार्वभौमिक उद्देश्यों में समाहित करके। विलियम ला के अनुसार, "ईसा द्वारा मुक्ति पाने का मतलब और कुछ नहीं, उनकी तरह बनना है—उन्हीं की तरह ही विनम्र और विनयशील बनना, उन्हीं की तरह ईश्वर से प्रेम करना और उसकी इच्छानुसार काम करना है।" ईसा हमें पादरी के नियन्त्रण से बाहर रहने और आध्यात्मिक विकास से होकर गुज़रने की बात कहते हैं। हमें फिर से जन्म लेना है, सत्य की चेतना से जन्मना है। बारहवीं सदी के एक रहस्यवादी सूफी, आइन अलक़ुदत पर हुमधनी कहता है : "जो गर्भ से जन्म लेता है वह केवल दुनिया को देखता है, मात्र वही जो अपने-आपमें जन्म लेता है, दूसरी दुनिया को देखता है।"

विश्व एक स्थैतिक यन्त्र-विन्यास नहीं है। यह एक प्रक्रिया है। मनुष्य एक उच्च जीव के रूप में विकसित हो रहा है। उसे नई सम्भावनाओं के बारे में सजग होना है। मनुष्य के विकास की प्रक्रिया अधूरी है, इसे पूरा होना है। विश्व का कभी न ख़त्म होने वाला स्रोत हमारे इस आश्वासन का आधार है कि यह भविष्य में तब तक फलता-फूलता रहेगा, जब तक चेतना के राज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। अगर हम अपनी स्वतन्त्रता का सही उपयोग करें तो मनुष्य के भविष्य की परिकल्पना शनैः-शनैः दैवी पूर्णता की ओर बढ़ने की होनी चाहिए। धरती पर ईश्वर के राज्य को उतारना ही जगत् की आत्मिक भावना है।

सुख की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन-भर का सुख मात्र ऊब का कारण होगा। परिपूर्णता की ओर विकास ही जीवन का लक्ष्य है। हम इस विश्व में सुखी होने के लिए नहीं, विकसित होने के लिए हैं। हर तरह के विकास में संघर्ष और पीड़ा के क्षण सम्मिलित हैं।

'विकास' (ग्रोथ) यहाँ पर एक केन्द्रीय शब्द है। नीतिशास्त्रीय व्यक्तित्व कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो हमें जन्म के साथ मिलती है, न ही यह हमें दिया जाता है। हममें से प्रत्येक वैभिन्य और अवसर द्वंद्ववाली प्रवृत्तियों और संभावनाओं के साथ लुढ़क रहा है। हम अपने जीवन में अपनी शक्तियों का इतना ज्यादा अपव्यय इसीलिए करते हैं, क्योंकि एक इच्छा दूसरी इच्छा पर हावी हो जाती है, एक प्रवृत्ति पर दूसरी प्रवृत्ति हावी हो जाती है। हम आगे बढ़ते हैं,

खोजते हैं और अपनी अज्ञानता और अंतर्विरोधों के बीच से अपनी 'रचना' करते हैं। हममें कुछ ऐसी अंध-इच्छाएँ होती हैं जो हमें असम्भव तृप्तियों के लिए लगातार उत्तेजित करती रहती हैं। अगर मनुष्य होने का मतलब उसमें सम्भाव्यता का होना है तो हमें बराबर यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसकी सम्भाव्यताएँ पापवृत्ति की भी हैं और अच्छाई की भी। हमें करना यह है कि जीवन जीते हुए और ज़्यादा नीतिशास्त्रीय व्यक्तित्वों का निर्माण करना है। हम ऐसा तभी कर पाते हैं, जब दूसरों के भरोसे रहने की बजाय, उन पर निर्भर करने या उनसे दूर रहने की बजाय, हम दूसरों के जीवन को आगे बढ़ाने के लिए समर्पित होते हैं।

हेलेनीय विचारक ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को पूर्ण नहीं बनाया, जिससे कि वह मानवीय स्तर के अस्तित्व के साथ दैवी निमित्त को पूर्ण कर सके। मनुष्य अभी भी रचना-प्रक्रिया में है। ईश्वर ने दृढ़तापूर्वक मनुष्य-जीवन का उद्देश्य तैयार किया है। वह धीरे-धीरे मनुष्य को यश और पूर्णता की ओर ले जाता है। अलगाव या पृथकत्व के शिकार मनुष्य, गहरी ज़रूरतों के समय ईश्वर का वरदान—उसकी मंगल कामना—प्राप्त करते हैं। हो सकता है कि वे यह न जान पाएँ कि यह मंगल-कामना कहाँ से आती है, लेकिन यह किसी ऐसी चीज़ की उपस्थिति की सूचना है जो हमारे चिंतन के बन्द तरीकों का अतिक्रमण कर जाती है।

हम इस ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया को तब तक नहीं आँक सकते जब तक हम उस दैवी यथार्थ को नहीं मान लेते जो इस प्रक्रिया को सचेष्ट रखता है और प्रभावित करता है। ऐसी आस्था जीवन—अर्थ और सौन्दर्य—का स्रोत है। हम विश्व से शुरू करते हैं और चेतन तक पहुँचते हैं। विश्व का मूल्य है और उसमें अच्छाई है। हम इस आस्था के सहारे जीते हैं और सन्देहों और विरोधों को जीतने के बाद मृत्यु के आगे आत्मसमर्पण करते हैं। जगत् ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया का आरम्भ है, उसका अन्त नहीं। जगत् वह जगह है जहाँ मानवीय आत्माएँ ब्रह्मात्माओं में विकसित होती हैं।

५

यथार्थ-अनुभव के रूप में धर्म

भारतीय चिन्तन आध्यात्मिक अनुभव की यथार्थता में विश्वास करता है। अनुभव ज्ञान का फल है।[1] ज्ञान सिद्धि की ओर ले जाता है। हम एक दूसरी अत्यन्तता—तीव्रता—की ओर बढ़ते हैं, एक गहरे सम्पर्क की ओर। कोई भी चिन्तन, जो पर्याप्त गहराई में जाता है, ज्ञान बन जाता है। चिन्तन द्वारा अनुभव अपने बारे में स्पष्टता प्राप्त करता है। वैचारिक ज्ञान के द्वारा हम परिपूर्णता नहीं प्राप्त कर सकते। 'थ्योरिया' या ध्यान ग्रीक शब्द है जो सनातन के अनुभव को संकेतित करता है।[2]

जब ईश्वर ने जॉब के सामने अपने को प्रकट किया तो उसने आश्चर्य से कहा : "मैंने तुम्हारे बारे में अब तक कानों से सुना है, लेकिन अब मैं तुम्हें अपनी आँखों से देख रहा हूँ।"[3] शुद्ध हृदय वाले सौभाग्यशाली हैं (वरदान से), क्योंकि वे ईश्वर को देख सकते हैं। पूरा जीवन एक 'सामना' है और आदमी का सबसे बड़ा 'सामना' ईश्वर से होता है—भगवद्गीता के अन्त में कृष्णार्जुन संवाद में यही कहा गया है। मनुष्य तब तक ईश्वर को नहीं जान सकता, जब तक कि एक पूज्य वस्तु के रूप में वह उसके सम्पर्क में नहीं आता और उसके साथ उसका एक निजी 'सामना' नहीं होता। भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में, जोकि श्रेष्ठ काव्य का नमूना है, अर्जुन पूरे विश्व को ईश्वर के रूप में देखते हैं। उसके प्रकाश से अर्जुन की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। परदा फट जाता है। दैवी, दिक् की सीमाओं को ढहा देता है, अस्तित्व के बंधनों को ही तोड़ देता है। दैवी, आकाश, जगत् और दिक् में भर जाता है। विश्व एक बड़े जल-प्रपात के रूप में उसमें से होकर गुज़र जाता है। इस दृष्टि की चेतना उल्लेखनीय रूप से यहूदी, ईसाई और मुसलमान सिद्ध

१. अनुभवावसानम एव विद्याफलम् विजय प्रसम कुर्विता।

२. पुस्तके लिखिता विद्या येन सुन्दरी जप्यते
सिद्धिर न जायते तस्य कल्पकोटि सतैर अपि। सत्कर्मदीपिका।

3 Job XIII 5.

पुरुषों के अपने द्वारा जाँचे गए अनुभवों के नज़दीक पड़ती है।

आगस्टाइन और उसकी माँ जब स्वर्ग के जीवन के बारे में बात कर रहे थे, जब वे सनातन का ध्यान कर रहे थे, तब वे अपने-आपसे ऊपर उठ गए थे और हृदय के एक चरम प्रयत्न में, उन्होंने क्षण-भर के लिए मुक्ति—परमानन्द—को ही छू लिया था। अगर सांसारिक बाधाएँ आड़े न आतीं, और क्षणिक उठान को क़ायम रखा जा सकता तो वे स्वर्ग पहुँच गये होते। आगस्टाइन कहता है :

"इसीलिए हमने कहा, अगर किसी आदमी की शारीरिक उत्तेजना रुक जाती, चुप हो जाती, अगर धरती, पानी और हवा थम जाती, और अगर स्वर्ग के स्तम्भ भी थमे रह जाते; अगर आत्मा स्वयं निश्चल हो जाती, अपने बारे में न सोचकर अपने-आपसे ऊपर उठ जाती, अगर सभी स्वप्न और संगत कल्पनाएँ थम जातीं, और हर जिह्वा, हर संकेत···चुप करा दिए जाते, और अगर केवल वही बोलता—बिना उनके; जैसे कि क्षण-भर पहले हम दोनों अपने-आपसे ऊपर उठ गए थे, और चिन्तन के एक प्रकाश में हमने उस सनातन ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, जो सभी चीज़ों से बड़ा है—कल्पना करो, अगर यह स्थिति बनी रहती कि और दूसरी सभी दृष्टियाँ, एक-दूसरी से इतनी भिन्न दृष्टियाँ, हटा ली जातीं, सिर्फ़ इसे छोड़कर, उस व्यक्ति को, भीतरी आनन्द में अपने साथ बहा ले जाने, भुलाए रखने और लपेटने के···तो क्या यह "अपने स्वामी के आनन्द में प्रवेश" नहीं कहलाता ? और ऐसा कब होगा ? क्या तब जब "हम सब उठ खड़े होंगे।" हालाँकि "हम सब परिवर्तित नहीं होंगे।"[1]

ज़ेन बौद्धधर्म तर्कशास्त्रीय विश्लेषण को नापसन्द करता है। हमें अपने पूरे अस्तित्व के साथ जानना चाहिए, उसके किसी एक अंग द्वारा नहीं। अस्तित्ववादी मानते हैं कि सत्य व्यक्तिनिष्ठ होता है। इसे भीतर से ही जाना जाता है, बाहर से उधार नहीं लिया जाता। स्वतन्त्रता यहीं और अभी प्राप्त की जा सकती है।

मोक्ष किसी विशेष जगह में नहीं मिलता, न ही इसे प्राप्त करने के लिए किसी दूसरे 'गाँव' में जाना पड़ता है, अज्ञान का विनाश, जो हृदय की गाँठ है, ही मोक्ष है।[2]

---

१. 'कन्फ़ेशन्ज़ ऑफ़ सेंट आगस्टाइन' : रेक्स वाइनर द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद।

२. मोक्षय न हि वासोस्ति न ग्रामान्तरम वा
अज्ञान-हृदय-ग्रन्थि-नासो मोक्ष इति स्मृतः। (शिव-गीता, XIII 32)

यथार्थ का सही रूप आदमी स्वयं अपनी ही समझ की निर्मल दृष्टि बोधचक्षु—से देख सकता है, किसी पंडित की आँखों से नहीं : (पूरे) चांद का सही रूप अपनी आँखों से ही देखा जा सकता है, किसी दूसरे के द्वारा नहीं।[1] गुरु या उपदेशक वही है जो आँखों के आगे से परदा हटाकर हमें ठीक-ठीक देखने में सहायता करता है।[2] विवेक चूड़ामणि में कहा गया है कि अनुभव अपना ही होना चाहिए, किसी दूसरे द्वारा अनुभूत की प्रतिध्वनि नहीं। अनुभव प्रत्यक्ष और बिना मध्यस्थता के होता है। यह 'सम्पर्क के द्वारा ज्ञान' है। यह हमारी एकान्तिक निश्चितता की अनुभूति है। जब हम धूप का अनुभव करते हैं तो उसके यथार्थ के बारे में कोई सन्देह प्रकट नहीं करते।

जिस तरह हम, ब्रह्मांड-प्रक्रिया के पीछे एक रहस्य को मानते हैं, उसी तरह हम मानसिक बहाव की स्थितियों के पीछे के रहस्य को भी स्वीकार करते हैं। सभी तरह के ज्ञान में एक विषय निहित होता है जो अपने बारे में सजग है और अपने अनुभवों के वैविध्य में अपना पर्याय आप बना रहता है। इसका एक आत्मन है जिसके पास अनुभव होता है, वह स्वयं अनुभव नहीं होता। यह ऐसी वस्तु है जो अनुभवों के ऊपर और उनसे परे है।[3] स्व या आत्मन के पास एक शरीर होता है, वह स्वयं शरीर नहीं है, इसका एक भावात्मक जीवन है, लेकिन यह भावनाओं का एक ढेर नहीं है। इसके पास एक बुद्धि होती है लेकिन यह स्वयं में बुद्धि नहीं है। ये सब अनुभव के, प्रेक्षण और कार्य के औज़ार हैं। अनुभव के औज़ारों के रूप में वे परिवर्तनीय और अस्थायी हैं। उन्हें अनुशासित किया जाता है और उनका विचारपूर्वक प्रयोग किया जाता है। आत्मन, प्रेक्षण भावनाओं और विचारों का पुंज नहीं है। यह शुद्ध आत्म-सजगता है। आत्मन जिन अवस्थाओं में अपने को अभिव्यक्त करता है, उनसे अलग है, और अपनी अभिव्यक्तियों के दौरान बराबर अपना पर्याय बना रहता है।

कोई भी उस आत्मन के बारे में सन्देह प्रकट नहीं कर सकता, जिसके बारे में वह सजग है। यह आध्यात्मिक अस्तित्व का पर्याय है। कांट का कहना है

१. वस्तुस्वरूपं स्फुट्बोध-चक्षुषा
स्वेनैव विद्यं न तु पंडितेन
चन्द्र-स्वरूपं निज-चक्षुसैव
ज्ञातव्यं अन्येर अवगम्यते किम्। —विवेक चूड़ामणि : ५४

२. अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानांजन शलाकया
चक्षुर उन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः।

३. येषु व्यावर्तमानेषु यद अनुवर्तते तत तेभ्यो भिन्नम्।

कि विष या आत्मन प्रतिभास (फिनोमिना) के दिक्-काल वाले विश्व के परे है। हम अपने आत्मज्ञान से यह तो जान सकते हैं कि वह है, लेकिन यह नहीं जान सकते कि वह क्या है—पात्र का ज्ञान। कांट के अनुसार अन्तरावलोकन के द्वारा प्राप्त 'क्या' विषय के रूप में आत्मन की प्रकृति का प्रभेद नहीं है, आत्मन का वस्तु के रूप में प्रभेद है, जो समयहीन सच्चे आत्मन की केवल समय में एक झलक है। कांट मनुष्य की दुहरी प्रकृति की ओर संकेत करते हैं। प्रतिभासी या बोध के जगत् का होने के नाते वह 'निर्धारित' है, और अज्ञात या अलौकिक होने के नाते स्वतन्त्र। "जो तुममें है वह उससे बड़ा है, जो दुनिया में है।" मनुष्य नैतिकता के नियम का उल्लंघन करने के लिए स्वतन्त्र है। मनुष्य की द्वन्द्वात्मक चेतना, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, का कारण उसके भीतर रहने और काम करने वाली आत्मा है, जिसकी मनोविज्ञान में व्यवहारवाद और समाजशास्त्र में निर्दिष्टवाद, उपेक्षा करते हैं। हर व्यक्ति को 'देखने' वाला मानवीय प्राणी बनना चाहिए। बुद्ध हमसे जागृत होने के लिए कहते हैं।

यथार्थ में पैठ, विवेक की पहुँच के बाहर, लेकिन उसके अनुरूप है। यह तर्कना-परक को प्रभावित करती है, इसे पूर्ण करती है और महत्त्वपूर्ण बनाती है, जिससे कि जो तर्कना-परक के परे चला जाता है वह इसका उल्लंघन न कर सके। हालाँकि सत्य को शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता, लेकिन विरोधाभासों और कविता द्वारा यह संकेतित होता है। इसकी ओर संकेत किया जाता है, इसका वर्णन नहीं किया जाता। कला की समस्याएँ अवधारणाओं द्वारा नहीं, रूपों और प्रतीकों द्वारा सुलझाई जाती हैं। चिन्तन कभी समाप्त नहीं होता लेकिन कला-रचनाएँ पूरी हो जाती हैं। कवि प्रतीकों की भाषा में, न कही जा सकने वाली बात कह देता है। कलाकार ऐसे प्रश्नों के उत्तर देते हैं, जिनके लिए यह माना जाता है कि उनका कोई उत्तर नहीं हो सकता। काव्यात्मक उड़ान और दार्शनिक आस्था को मिलाना चाहिए।

: २ :

धर्म चरम-सत्ता की प्रत्यक्ष समझ (बुद्धि) है। यह प्रकाशोद्भव की अवस्था की प्राप्ति है। यथार्थ सर्वव्यापक है, और मनुष्य इसे अपने आन्तरिक अस्तित्व में प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण कर सकता है।[1] यह सिद्धान्त उपनिषद् के

१. समाधि चेतनता की एक स्थिति है, मस्तिष्क का एक 'ढाँचा', जो ध्यान की उच्चतम अवस्था में ठोस चीज़ों में जो सबसे ज़्यादा ठोस चीज़ है, उसका ध्यान करता है—सबको साथ खींचने वाले, तात्कालिक, ठोस और उद्घाटित यथार्थ का। इस

सूत्र, तत त्वम असि (वह तुम्हीं हो) में निरूपित किया गया है।

जल के बीच मछलियाँ प्यासी हैं और विश्व के लोग अलौकिक की खोज में विश्व-भर में भटक रहे हैं, जबकि वे स्वयं अलौकिक के भीतर हैं, उसके अंश हैं। जब हम विज्ञान में अपनी खोजों को आगे बढ़ाते हैं तो हमें एक रहस्य का सामना करना पड़ता है। उसके बाहर हम आत्मन के सूत्र और प्रक्रियाएँ जान सकते हैं, लेकिन आत्मन् के अन्तिम रहस्य को कभी नहीं जान सकते, क्योंकि वह बराबर जाननेवाला है, स्वतन्त्रता का केन्द्र और उत्तरदायित्व का वाहक।

जब हम वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाओं तक पहुँचते हैं तो हम वस्तुतः दो रहस्यों तक पहुँचते हैं—एक तो वह जो आत्मन् के भीतर है, और दूसरा वह जो संसार से परे है। उपनिषद् कहते हैं कि आत्मा ही ब्रह्म है। दोनों एक-दूसरे से जुड़े हैं। व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्रता में और उसके द्वारा हम यथार्थ को खोजते हैं, हम आत्मन् को उसकी एक बड़ी पूर्णता में प्राप्त करते हैं और अनुभव करते हैं कि हम वह नहीं हैं जो ऊपर से मालूम पड़ते हैं और कि हमें आत्मन् एक पवित्र धरोहर के रूप में मिला है। यह दृष्टि यथार्थ से पलायन नहीं है, बल्कि यथार्थ से उसके गहरे स्तरों पर सामना है।

ईश्वर के अस्तित्व की निश्चितता स्थापित करने से पहले आगस्टाइन सामान्य रूप से दृढ़-निश्चय किए जा सकने की संभावना स्थापित करते हैं। वह ऐसा, सबसे बड़े दृढ़-निश्चय को, मुट्ठी में पकड़कर करते हैं—ऐसे दृढ़-निश्चय को जिसे नास्तिक के बड़े-से-बड़े सन्देह भी नहीं डिगा सकते – यह दृढ़-निश्चय है, उनके अस्तित्व की निश्चितता। क्योंकि एक व्यक्ति को चाहे अब तक यह पता न हो कि ईश्वर है या नहीं, लेकिन वह जानता है कि वह स्वयं है—उसका अपना अस्तित्व है। शंकर और डेस्कार्टेस का भी यही मत है। आत्मन् का छिपा हुआ वैभव सनातन जीवन में है, जो कोई बंधन, ह्रास या दुःख नहीं जानता।

सच्चे धर्म को मात्र मताग्रहों के ज्ञान और धर्मनिष्ठा से अलग करके देखना चाहिए। ध्यान आत्मानुभूत ज्ञान प्राप्त करने का तरीका है। व्यक्ति की आध्यात्मिक अवस्था ही स्वर्ग है। यह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह सुमेल (हारमनी) और आध्यात्मिक सत्य के प्रति सजगता को प्राप्त

अवस्था में व्यक्ति उस प्रकाशोद्भव में पूरा-पूरा भाग लेता है, जो उस व्यक्ति के चिन्तन से बहुत आगे निकल जाता है जो अपने-आपको अहं—चेतनता में समझता है। साधारण भाषा यथार्थ के उस प्रत्यक्ष-सत्य की ओर संकेत-भर करती है, जो इस अवस्था में व्यक्ति के सामने प्रस्तुत होता है।

करे। वह अवस्था सत्य और प्रेम को प्रतिबिम्बित करती है—वह करुणा और सहनशीलता की अवस्था है।

ऐसे सभी अनुभवों में, जो आध्यात्मिक कहे जाते हैं, कुछ विशेष बातें उभयपक्षी होती हैं। पहली तो यह कि अनुभव 'मिलता' है। इच्छा से इसका निगमन नहीं किया जा सकता और न प्रयत्न करके इससे बढ़ाया जा सकता है। यह इच्छा की शर्तों को नहीं मानता। यह उस समय 'घटित' होता है जब हम इसकी अपेक्षा बिलकुल ही नहीं कर रहे होते—एक क्षण के लिए, पलक मारने या हाथ उठाने, जितने समय में। भारतीय धर्मग्रंथ आध्यात्मिक अनुभव की तुलना बिजली की कौंध से करते हैं जो सहसा ही गहरे नीले बादलों के बीच से प्रकट होती है।[1] अनुभव ग्रहण करने की व्यक्ति-क्षमता आयु, मनो॰ शारीरिक गठन और सांस्कृतिक वातावरण से प्रभावित हो सकती है। यद्यपि सभी मनुष्य इसे प्राप्त करने की क्षमता रखते हैं—इसके अधिकारी हैं; लेकिन उनमें से कुछ ही इसके लिए आवश्यक प्रयत्न करते हैं। दूसरी बात यह कि अनुभव का सार जो भी हो, अनुभव करने वाला पूरी तरह यह मान लेता है कि यह यथार्थ का उद्‌घाटन है। इसमें एक सत्ता निहित होती है, प्रश्न से परे, मापहीन शक्ति की सत्ता। यह जीवन-स्रोत के उद्‌घाटन के रूप में ही अनुभूत होता है। यह आलोक है, होने की एक स्थिति! इसमें मुक्ति का भाव है। तीसरे यह कि चूंकि ईश्वर 'पूरी तरह दूसरा' है, इसलिए मानवीय भाषा उसे अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। हमसे स्वतन्त्र, अलग स्थिति वाले पदार्थों के बारे में हमारा जो ज्ञान है, वह दूसरे लोगों, जिनसे हम सम्बन्धित होते हैं, के बारे में हमारे ज्ञान से भिन्न होता है, जबकि पदार्थों के सम्बन्ध में अतिस्पष्टता होती है, व्यक्तियों के सम्बन्ध में अस्पष्टता होती है। यथार्थ का प्रत्यक्ष अनुमान संप्रेषित नहीं किया जा सकता। "शरीर में रहकर या शरीर के बाहर, मैं बता नहीं सकता : ईश्वर जानता है।"[2] याक्स मारीतेङ्ग लिखता है : "विवेक या आस्था द्वारा जितना ही वह ईश्वर को जानता है उतना ही वह यह समझता है कि हमारी धारणाएँ सादृश्य द्वारा उस तक पहुँचती तो हैं लेकिन उसे बाँध नहीं पातीं और कि उसके विचार, हमारे विचारों की तरह नहीं हैं; क्योंकि परमात्मा के मस्तिष्क को कौन जान सका है या उनका प्रतिनिधि कौन बन सका है?[3] आस्था जितनी ज़्यादा

१. नीलतोयद—मध्यस्थ विद्युल्लेखेव भास्वरा।
२. कोरिन्थियन्स, १२, २।
३. ईसाइया XI 13।

शक्तिशाली और गहरी होती जाती है, मनुष्य उतना ही झुकता जाता है, सत्य के प्रति अपने कथित अज्ञान के सामने नहीं, बल्कि अलौकिक सत्य के गहन रहस्य के सामने उन छिपी 'राहों' के सामने जिनसे होकर ईश्वर उनसे मिलने जाता है, जो उसे खोजते हैं।[1] व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि उसके सामने यथार्थ उद्घाटित हुआ है, जो सामान्य स्थिति में उससे छिपा रहता है। चौथे, अनुभव चाहे जिससे सम्बन्धित हो—वस्तुओं, व्यक्तियों या ईश्वर से—उनका अनुभव, प्रकाश के रूप में, महिमा में लिपटा होने की तीव्र आकांक्षा से चालित, अस्तित्व की तीव्रता में किया जाता है।

ईश्वर हमारे भीतर गहरे में है, चारों ओर है, हमारे नीचे है, हमारे ऊपर है और हमसे परे है। यह परम शक्तिशाली और भयंकर है, फिर भी आत्मीय और निकट है। अन्त में, अनुभव इतना महत्त्वपूर्ण है कि यह विषय का ध्यान पूरी तरह अपने में डुबा लेता है, जिससे कि अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं वाला उसका 'स्वरूप' फिर किसी महत्त्व का नहीं रह जाता। जबकि दृष्टि (विजन) बनी रहती है, स्व या आत्मन् को भुला दिया जाता है।

: ३ :

यथार्थ का सामना करना उन्हीं के लिए सम्भव है, जिन्होंने अपने अन्तर्द्वन्द्वों को जीतकर व्यक्तित्व की एकता और सुमेल प्राप्त कर लिया है। अपनी पुनर्रचना करना ही धर्म है। मनुष्य मात्र को नवीकरण की आवश्यकता है। स्वर्ग के राज्य, चेतना के राज्य में प्रवेश पाने के लिए उसे फिर से जन्म लेना होगा। उसे जीवन का भौतिकवादी दृष्टिकोण छोड़ देना पड़ेगा। ईसा ने निकोडेमस से कहा : "मांस से मांस जन्म लेता है और चेतना से चेतना। अगर मैं तुमसे कहूँ कि तुम्हें फिर से जन्म लेना पड़ेगा तो आश्चर्य न करना।"[2] हमें चेतन संसार के यथार्थ में जागना पड़ेगा। धर्म, परतंत्र चेतना की सोई शक्तियों को स्वतंत्र कराने में सहायता करता है। यह मनुष्य के यथार्थ को जागृत करता है और जीव मात्र की पुनर्रचना करता है।

सेंट पाल इस पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कहते हैं : "इस दुनिया के तौर-तरीकों के अधीन नहीं होना चाहिए; एक भीतरी परिवर्तन होना चाहिए, मस्तिष्क का एक पुनर्गठन, जिससे कि ईश्वर की इच्छा का, अच्छी वस्तु का, अपेक्षित वस्तु का, पूर्ण वस्तु का, पता चल सके।"[3]

---

१. द ग्रेजुएट जर्नल।

२. जॉन ७.६-७।

३. रोमन्स १२.२।

जब मनुष्य अपने होने की अपरिहार्य स्थिति और न होने की संभावना वाली वेढंगी स्थिति के बीच वेकली से घिर जाता है तब वह अपनी लौकिकता (परिमितता) को पहचानता है। आशा बँधती है तो इस बात से कि उसकी परिमितता की सजगता में ही उसकी सम्भावनापूर्ण सीमाहीनता—अलौकिकता—के दर्शन होते हैं। सम्भावनापूर्ण सीमाहीनता की यह सजगता, सनातनता के ज्ञान की ओर ले जाती है। मनुष्य, अस्तित्व के मूल (परमात्मा) से अपने अलगाव का अनुभव करके, उसमें फिर से जाकर मिल जाने के लिए संघर्ष करता है।

"कहते हैं मस्तिष्क दो तरह का होता है : शुद्ध और अशुद्ध। यह अशुद्ध तब होता है जब यह इच्छाओं का दास बन जाता है और जब इनसे स्वतन्त्र रहता है तो शुद्ध होता है।"[१] जब हम अपने को निर्मल कर लेते हैं और पूर्ण एकता का स्तर प्राप्त कर लेते हैं तब हम अपने अस्तित्व में अलौकिक हो जाते हैं। सेंट पाल के अनुसार "जो अदृश्य ईश्वर का प्रतिमा-चित्र है" उसी ने "दृश्य और अदृश्य वस्तुओं की रचना की है।"[२] 'ईश्वर की प्रतिमा' मुहावरे का प्रयोग डिवाइन विज़डम के यूनानी ओल्ड टेस्टामेंट में किया गया है।[3] सेंट पाल, सर्वातिरिक्त परमात्मा और उसकी बनाई दुनिया के बारे में बताने के लिए, एक प्रतिनिधि, जिसे बाद में हिब्रू विचार-दर्शन में सम्मिलित किया गया, के एक वर्णन को ईसा पर लागू करते हैं। एक अंश में सेंट पाल कहते हैं कि ईसा, ईश्वर का पांडित्य है,[४] और ओल्ड टेस्टामेंट में पांडित्य (विज़डम) भूतपूर्व का सिद्धान्त[५] और सृष्टि का शिल्पी,[६] दोनों ही है। समय-जाल से बचने के लिए, उससे मुक्त होने के लिए, इस 'पांडित्य' का अनुभव करना पड़ता है। सबको अपने-अपने लिए यह अनुभव करना पड़ता है, अपने भीतर ईश्वर का उद्घाटन करना पड़ता है। "भय और कँपकँपाहट से अपने-आप अपना विस्तार करो।"[७]

चौथे गॉस्पेल के अनुसार अवतार का उद्देश्य दैवी प्रकाशन, प्रकाश देना,

१. मनो ही द्विविधम प्रोक्तम शुद्धमं काशुद्धमं
एव काशुद्धमं काम-सम्पर्कात शुद्धमं काम-विवर्जितम ।

—पंचादशी, ग्यारह, ११६

२. कोलोसिअन्स-एक. १५-१६ ।
३. विज़डम—सात २६ ।
४. कोरिंथिअन्स—एक. २४-३० ।
५. प्रॉवर्ब्स आठ. २२ ।
६. प्रॉवर्ब्स आठ. ३० ।
७. फिलिप्पिअन्स दो. १२ ।

और दैवी योजना के अनुरूप ईश्वर और मनुष्य का उनके असली रूपों में, उद्‌घाटन करना है। यह जीवन का सम्प्रेषण है, आने वाले युग के जीवन का सम्प्रेषण।[१]

जस्टिन मार्टियर कहते हैं कि "फ़ादर (पिता) द्वारा भेजी गई शक्ति को 'शब्द' कहते हैं, क्योंकि वह परमात्मा द्वारा भेजा गया संदेश मनुष्यों तक पहुँचाता है।"[२] कुछ ऐसे लोग हैं जो शब्द को तर्कनापरकता के सिद्धान्त के रूप में मानते हैं। वह ऐसा शब्द है जिसके हर जाति के मनुष्य भागीदार रहे हैं, और जो शब्द के साथ रहे हैं वे ईसाई हैं, भले ही उनके बारे में यह सोचा गया हो कि वे नास्तिक हैं।[३]

: ४ :

हम प्रामाणिक अनुभवों और कृत्रिम अनुभवों में, ज्ञान के साथ उनकी अनुरूपता के अनुसार भेद करते हैं, उस ज्ञान के अनुसार जो हमें अन्य उपायों और नीतिशास्त्रीय फलों के द्वारा प्राप्त होता है। "हर चेतना में विश्वास न करो बल्कि चेतनाओं को जाँचो कि क्या वे ईश्वर की हैं।"[४] अनुभव-प्राप्त आत्मा बदली हुई आत्मा होती है। उसे पुनर्जन्म-प्राप्त आत्मा कहा जाता है। वह समूचे विश्व में व्याप्त दैवी को देखती है। कहते हैं कि मुक्त आत्मा एकान्त ढूँढ़ती है, दुनिया के बन्धनों से अलग रहती है, सत्व, रजस और तमस, इन तीन गुणों से ऊपर उठ जाती है, वह विश्व की प्रगति और समृद्धि के प्रति समर्पित होती है, कर्म के फलों में रुचि लेना छोड़ देती है, कर्म से पृथक् हो जाती है, अच्छे और बुरे के भेद से ऊपर उठ जाती है, धर्मग्रंथों तक को अस्वीकार कर देती है, और बराबर ईश्वर में लीन रहती है।[५]

ग्रेगरी महान् का कहना है : "धार्मिक मनुष्य भ्रम और दैवी प्रकाशन के बीच, दृष्टि के शब्दों और प्रतीकों मात्र के बीच, अपनी एक भीतरी समझ से भेद कर लेते हैं, उससे वे यह जान लेते हैं कि उन्हें अच्छी चेतना से क्या मिल रहा है और ठगने वाले के हाथों वह क्या खो रहे हैं। क्योंकि अगर मनुष्य का

---

१. विज़डम नौ. २।

२. डायलाग एक. २८।

३. एपोलॅजी I, XI. VI।

४. जॉन IV. I।

५. यो विविक्तमं स्थानमं सेवते, यो लोक-बन्धनम् उन्मूल्यति, निस्त्रै गुण्यो भवति यो योगक्षेमम भजति, यह: कर्म-फलम त्यजति कर्माणी समन्यस्ति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति, यो वेदान अपि समन्यस्ति केवलम् अविच्छिन्नानुरागम लभते।

मस्तिष्क इसके बारे में सावधान नहीं रहेगा तो वह माया के वशीभूत होकर, कई तरह के अहं पाल बैठेगा। माया कई बार स्वभावत: कई यथार्थ वस्तुओं को छिपा लेती है, जिससे कि वह एक ही झूठ से आत्मा को अपने जाल में फंसा सके।"[१] मीस्टर एकहार्ट अपने 'सरमनों' में कहते हैं, "पुनर्जन्मी आत्मा उस आँख की तरह होती है जो सूर्य की ओर देख लेने के बाद, हर चीज़ में सूर्य को देखती है।" यह विनम्र होती है, और अपने बारे में जितनी वह है, उससे ज़्यादा नहीं सोचती; यह प्रेममयी होती है, क्योंकि यह केवल अपने भर को ही प्यार नहीं करती, यह सच से भरी होती है क्योंकि यह अपनी रुचियों और आग्रहों को एक तरफ रख देती है। जब सुमेल हो जाता है तब ऐसा कहते हैं कि आत्मन् का जन्म होता है, अर्थात् अमर चेतना जो पहले छिपी हुई होती है, अपने को प्रकट करती है। यह व्यक्तित्व की एकता है। यह अहं-सचेतनता को खोए बिना, आत्मन् की समग्रता को पाना है। यह बिना समय की चेतना को खोये हुए अपने भीतर के समयहीन अस्तित्व को पहचानना है। यह ईश्वरीय स्थिति है।[२]

: ५ :

भारतीय विचार-दर्शन वैयक्तिक जीवन को उपेक्षणीय नहीं मानता या व्यक्तियों को बिलकुल ही महत्त्वहीन घोषित नहीं करता। प्रौढ़ता और शक्ति का मतलब अगम्य, दुराग्रही और हठधर्मी व्यक्तित्व नहीं है, बल्कि मानव-अस्तित्व की भीतरी शुद्धता और प्रकाशमयता है, जिससे कि वह अंततोगत्वा सत्य और यथार्थ के अनुरूप हो सके। सच्चा धार्मिक व्यक्ति पवित्र और निरपेक्ष की सीमा-रेखाओं के बीच, धर्म और राजनीति के बीच और होने-न-होने के बीच की स्थिति में रहता है। हमसे यह अपेक्षा नहीं की जाती कि हम इतिहास के बाहर रहें, और ऐसे मरुस्थल में जाकर त्याग और अस्वीकार का जीवन व्यतीत करें। साधुमना लोग विश्व के कार्यों में भाग लेते हैं और उसे आगे बढ़ाते हैं। उनका हर शब्द एक प्रार्थना है, हर कार्य एक त्याग। साधु पुरुषों का धर्म एक होता है। हम कर्म के लिए चाहे जो भी राह चुनें, वह परिपूर्णता की ओर ले जाएगी। जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति का प्रश्न अंत में, चेतना की तीव्रता पर निर्भर करता है। सम्पूर्ण जीवन महान् है और शुद्धता की ओर ले जाता है। महानता, जीवन की सामान्य वस्तुओं के बीच सार्थक जीवन जीने में है। गांधी लिखते हैं : "अगर

---

१. देखिए, सी० जी० जुंग : कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड २ (१६५८), पृ० २०।

२. एन्जेलस साइलेसियस ने मनुष्य की आत्मा में ईश्वर के पुत्र के जन्म की बात कही थी।

आज मैं राजनीति में हिस्सा लेता मालूम पड़ता हूँ, तो यह इसीलिए कि राजनीति आज हमें साँप की गुंजलक की तरह अपने में लपेटती है, जिससे कि कोई छूट नहीं सकता, चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे। मैं साँप से लड़ना चाहता हूँ...मैं राजनीति में धर्म को लाना चाहता हूँ।"[1]

अगर साधु पुरुषों के जीवन को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता तो धर्म अपनी मुक्तिदायिनी शक्ति खो बैठेंगे। कोई भी सांस्थानिक पद्धति, कोई भी सुथरी अध्यात्म-विद्या, भीतरी आध्यात्मिक दारिद्रय को नहीं भर सकती। हमारे जीवन की उत्तमता ही हमारे धर्म की साक्षी है। संत पुरुष हमें प्रोत्साहन देते हैं और झिड़कते हैं, अपनी सरल और प्रयासहीन श्रेष्ठता के कारण नहीं, बल्कि उस सहजता से जिससे कि वे जीवन के खतरों और मोहों का सामना करते हैं। वे हमारे लिए अच्छाई में विश्वास करना सरल बना देते हैं, हालांकि हम उन्हें गम्भीरतापूर्वक नहीं लेते, क्योंकि हम उनके मानदण्डों से अपना आचरण निर्धारित नहीं करते।

एक धार्मिक आदमी को कुछ-कुछ अमानवीय, पापियों से दूर रहनेवाला और रूखा कहा जाता है। जो दैवी के सबसे ज़्यादा निकट होते हैं वे सबसे ज़्यादा मानवीय और दयावान् होते हैं। वे आनंद से भरपूर रहते हैं और विश्व के प्रति आशावान होते हैं और दुःख या सनक में मुरझाते नहीं हैं। साधु पुरुषों को असांसारिक व्यक्ति मानना ठीक नहीं है, न ही उनके व्यवहार के साथ विषाद और क्रूरता को जोड़ना ठीक है।[2] पवित्रता का अर्थ संसार से अलगाव और आत्म-निर्वासन नहीं है। यह चेतना की शुद्धता है—उन सबसे अपराजित जो इसे धमकाते हैं या इसका विरोध करते हैं। यह बुराई के बीच रचनात्मक अच्छाई है, अपने साथ रोग-शुद्धि लाती है। न ही पवित्रता का अर्थ आश्रम का जीवन है।

आत्म-नियंत्रण वह गुण है जो महान् ध्यानियों के साथ जुड़ा है। जिन्हें सांसारिक मानदण्डों के अनुसार अनमोल माना जाता है, वे उन वस्तुओं को त्याग देते हैं, जिससे कि कुछ ज़्यादा अनमोल वस्तु प्राप्त कर सकें। निजी इच्छाओं, आकांक्षाओं, सम्पत्तियों से मुक्त वे एक ऐसे संसार का चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो क्रोध, ईर्ष्या और लोभ के उबलते संसार से श्रेष्ठ है।

संसार से बिलकुल कट जाना सम्भव नहीं है। ईश्वर सब जगह है, ऐसी

---

१. यंग इंडिया, २ मई १९२०।

२. डीन इंजे ने कहा था कि अगर उसे कोई संत न कहे तो वह इसका बुरा नहीं मानेगा, लेकिन कोई कहे कि वह भद्र नहीं है तो उसे चोट पहुँचेगी।

कोई जगह नहीं है जहाँ ईश्वर न हो। अगर संसार और ईश्वर के बीच विरोध है तो फिर संसार से सम्पूर्ण स्व-निष्कासन ही छुटकारे का एकमात्र उपाय है। "अगर मैं स्वर्ग में पहुँचता हूँ तो तुम वहाँ मिलते हो, अगर मैं नरक में अपना बोरिया-बिस्तर डालता हूँ तो तुम वहाँ मिलते हो।" स्तोत्रकार का कहना है, हमें संसार की दुष्ट भावना से अलग रहना चाहिए।[१]

हमें संसार में, हृदय की विनयशीलता और विनम्रता से काम करना चाहिए। हमें संसार में पूरी तरह से जीना चाहिए और इसे गहरे में प्यार करना चाहिए—इतने गहरे में जब हम इससे परे इसके यथार्थ की गहराइयों और सनातन के वैभव की ओर इंगित कर सकें।

साधुत्व किसी एक धर्म का सर्वाधिकार नहीं है। अमेरिका में ट्रैपिस्ट मठ हैं। सिस्टरसीय (cisterian) सम्प्रदाय के योगी कठिन अनुशासन का पालन करते हैं। वे बहुत सबेरे उठ जाते हैं, दिन में आठ घंटे प्रार्थना करते हैं, मांस, मछली या अंडे नहीं खाते, अपने से बड़ों को छोड़कर किसी से बात नहीं करते, मठ छोड़कर कहीं जाते नहीं, लोगों से बहुत कम मिलते हैं। अमेरिका में ऐसे बीस ट्रैपिस्ट मठ हैं, जिनमें से ज़्यादातर पिछले महायुद्ध के बाद स्थापित हुए हैं। ये उन तमाम भौतिक मूल्यों के लिए एक आश्चर्यजनक चुनौती हैं, जिन्हें हममें से कुछ अमेरिका के साथ बहुत आसानी से जोड़ लेते हैं। वे ऐसे ध्यानी हैं, जो दुनिया से कटे हुए हैं, फिर भी दुनिया को प्रभावित करते हैं। उनकी प्रार्थना, मौन, समर्पण और कर्म एक प्रकार से उनकी दीवारों के बाहर की क्रूरता, पीड़ा और अर्थहीनता की काट करते हैं।

प्रारम्भिक ईसाइयत में, मृत्यु-विषयक अपेक्षाओं के परिणामस्वरूप समाज-सेवा को बढ़ावा नहीं दिया जाता था। इससे जो लोग यह विश्वास करते थे कि चालू व्यवस्था शीघ्र ही अन्तिम निर्णय, पारिवारिक जीवन, सम्पत्ति, यहाँ तक कि आत्म-रक्षा के लिए रास्ता तैयार करेगी, वे महत्त्वपूर्ण नहीं लगते थे। संसार से ईसाई 'अलगाव' ने अपनी मृत्यु-विषयक (eschatological) आशाओं के फलीभूत न होने पर भी अपने को बचा लिया। अन्य—सांसारिकता, संसार के नष्ट हो जाने के विश्वास से स्वतन्त्र-सत्ता रखती थी।

सभी धर्मों में थोड़े से ही व्यक्ति होते हैं जो तपस्वी-जीवन व्यतीत कर प्रकृति के ऊपर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं।

१. "मैं यह नहीं कहता कि तुम उन्हें दुनिया से बाहर कर लो बल्कि यह कहता हूँ कि जो कुछ बुरा है, उससे उन्हें दूर रखो। वे इस दुनिया के नहीं हैं, जैसे कि मैं भी दुनिया का नहीं हूँ।"
—जॉन XVII—१५-१६।

: ६ :

भारतीय चिन्तन में हालाँकि सन्तों को श्रेष्ठ मान गया है, लेकिन सामान्य-संहिता जीवन की परिपूर्णता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के प्रमुख लक्ष्यों को निरूपित करते हैं। सभी मानवीय सम्बन्धों को एक आध्यात्मिक पद्धति के अनुकूल रखा जाता है। काम में यौन-जीवन का सुमेल और सुख निहित हैं। इसमें स्वतन्त्रता आवश्यक है। जब कोई चिड़चिड़ाहट और रोष से भरा हो तब इच्छा-शक्ति द्वारा प्रभावशाली ढंग से अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकता, न ही सहयोग दे सकता है। हम ब्रह्मचारी रहने का संकल्प लेते हैं, लेकिन हम ब्रह्मचर्य से बहुत दूर हैं।

काम एक सामाजिक फिनोमिना है, यहाँ तक कि आदिम जातियाँ काम को सामाजिक नियमों से बाँधती हैं। अगर हमें अपने औसत अस्तित्व को पूरा करना है तो हमें कुछ नैतिक आचरणों की ज़रूरत होगी। हमारे सामान्य जीवन के लिए नियम ज़रूरी हैं। अगर उन्हें निरंकुश मान लिया जाएगा तो वे विनाशकारी बन जाएँगे। आदम से कहा गया था कि वह ज्ञान के वृक्ष का फल न खाए। अगर आदम अपने सच्चे स्वरूप के साथ होता तो निषेधात्मक निर्देश की ज़रूरत न होती। मनुष्य के रूप में, उसे अपने सच्चे अस्तित्व का विरोध करने की स्वतन्त्रता थी। लोभ की स्थिति में उसने अपने सच्चे अस्तित्व, अपने स्वरूप का अतिक्रमण कर ही लिया था।

क़ानून की अनुपस्थिति में कोई पाप नहीं होता। कानून की प्रगति के साथ ही पाप की सम्भावना सामने आती है। सम्पूर्ण आत्म-परीक्षण के साथ हम क़ानून का अतिक्रमण कर सकते हैं और इसके परिणामों के लिए तैयार रह सकते हैं। मनुष्यों के लिए, यौन-जीवन में बुद्धिमानी और कल्पना का मेल श्रेयस्कर है। प्रेम, मात्र उत्सुकता की प्रवृत्ति या वासना की उछाल मात्र नहीं है। यह अपनी प्रकृति में आध्यात्मिक होता है।

यूनानियों के अनुसार, रोमांटिक आवेग, इन्द्रियों की अस्थायी उथल-पुथल है। प्रापर्टियस के काल तक यह भावोद्वेग एक स्थापित फिनोमिना बन चुका था। अगस्त-कालीन रोम में काम के सम्बन्ध में कोई अपराध-भाव नहीं था।

सेक्स के सम्बन्ध में ईसाई-शिक्षा है कि यह प्रायः ग़लत होता है, लेकिन मानव-जीवन की भंगुरता को ध्यान में रखते हुए, इसे, पोप ग्रेगरी के शब्द उधार लें, तो 'क्षमा' किया जा सकता है।[1] पॉलीय (Pauline) अध्यात्म-

१. सेंट पाल : "जल जाने से, विवाह करना बेहतर है।"

विद्या के प्रभाव में ईसाई धर्म काम-विरोधी धर्म के रूप में विकसित हुआ। सेंट पाल का यह मत है कि मानवीय-प्रेम, ईश्वर के प्रेम में बाधा पहुँचाता है, भले ही वह सक्रिय रूप से उसकी प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा न हो। कुछ ईसाइयों के अनुसार पाम्पेई का विनाश इसलिए हुआ क्योंकि ईश्वर बुरे और कामुक लोगों से नाराज था।

नैतिक आदतें बड़ी मुश्किल से समाप्त होती हैं। यह कहना सही नहीं है कि हम सभी आग्रह की जंजीरों से मुक्त होना चाहते हैं। हम स्वतन्त्रता की बनिस्बत बन्धन को पसन्द करते हैं। यहाँ तक कि जब कारावास के द्वार खुल जाते हैं, तब भी हम अपनी कोठरियों में रहना पसन्द करते हैं और भागना नहीं चाहते, क्योंकि परम्परा की पकड़ बड़ी मज़बूत है। मांस के प्रति हमारा तिरस्कार एक प्रकार का शक्तिशाली कौमार्य बन जाता है।

काम पवित्र वस्तु है, गन्दी नहीं। अगर धर्म सच्चा है तो उसे मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को पवित्र करना चाहिए। प्रेम में आनन्दित होना, बच्चों को प्यार करना, जहाँ प्रेम मिले वहाँ प्रेम करना—यह यथार्थ और अच्छा है। "मैं अपने शरीर के साथ तुम्हें पूजता हूँ।" जब हम कहते हैं कि प्रेम अन्धा होता है और वह प्रेमी में कोई दोष नहीं देखता, तो वह अन्धापन सबसे गहरी दृष्टि होता है।

कांट हमसे कहते हैं कि हम इन्द्रियों को, स्वाभाविक प्रवृत्तियों और भावोद्वेगों को विवेक और क़ानून के हवाले कर दें। यह प्रवृत्तियों को विवेक के हवाले करना नहीं है, बल्कि विवेक और प्रवृत्ति का सुमेल है। हमारी पीढ़ी में पुरुषों और स्त्रियों के सम्बन्धों में उखड़ापन है।

श्री यंग अपनी पुस्तक 'इरोज डिनायड' में कहते हैं : "विश्व के महान् धर्मों के बीच, ईसाई धर्म को स्पष्टतया जीवन-विरोधी परिभाषित करना चाहिए। सभी अन्य दृष्टिकोणों को एक साथ मिला दें तो उनकी तुलना में काम-भावना को दबाने वाला इसका दृष्टिकोण, इसके अनुयायियों को बड़ा कष्ट पहुँचाता है और सम्भावित धर्म-परिवर्तन करने वालों को इससे अलग करता है।"

कई देशों में, विशेष रूप से पूर्व में, कृत्रिम उपायों से जनसंख्या कम करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। धर्म इन उपायों पर आपत्ति करते हैं। सेंट आगस्टाइन के तर्क रोचक हैं : "जहाँ सन्तानोत्पत्ति को रोका जाए वहाँ अपनी वैध पत्नी के साथ भी सम्भोग ग़ैर-क़ानूनी और दुष्टतापूर्ण है। जूडा के लड़के

ओनान ने यही किया और ईश्वर ने इसके लिए उसे मार दिया।"[1] सन्तानोपत्ति ही विवाह का एकमात्र उद्देश्य नहीं है। पति-पत्नी के बीच आपसी प्रेम का विकास भी विवाह का उद्देश्य है, सम्भवतः मुख्य उद्देश्य।

दूसरी वैटिकन काउन्सिल में यौन-जीवन को, ऐसे स्वाभाविक फिनोमिना के रूप में स्वीकार किया गया जो मानवीय सुख में योग देता है। कैथोलिक धर्माध्यक्ष (कार्डिनल) सुयेनेस और लेगर तथा कई दूसरों का मत था, "हालाँकि विवाह अपने-आपमें और दाम्पत्य-प्रेम सन्तानोत्पत्ति के लिए और लड़कों की शिक्षा के लिए बने हैं, और इसी में अपनी सार्थकता पाते हैं," फिर भी दाम्पत्य प्रेम, "वैवाहिक क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होता है और पूर्णता प्राप्त करता है। विवाह में जिन क्रियाओं द्वारा युगल आत्मीयता और पवित्रता से बँधते हैं, वे भली और पवित्र होती हैं।" सन्तानोत्पत्ति के अलावा, दाम्पत्य-प्रेम का अपना एक स्वतन्त्र मूल्य होता है।

स्त्रियों का संसार, आदमी के संसार की तुलना में कम बेमेल और ज़्यादा स्वाभाविक होता है। स्त्रियाँ, आदमी के कर्म और विश्राम में कल्याणकारी प्रभाव डालती हैं। कांट का मत था कि स्त्री को राजनीति से अलग रहना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि सामाजिक समानता के सिद्धान्त में कोई अवनति होनी चाहिए। स्त्रियों में पुरुषत्व आने से वे अपने आवश्यक स्त्रियोचित गुणों या प्रकृति से वंचित हो जाएँगी। राजनीति में भी उन्हें अपने विशेष गुणों और गरिमाओं को भूलना नहीं चाहिए। एक समाज ने सभ्यता की कितनी सीढ़ियाँ तय की हैं, इसकी मुख्य जाँच इस बात से भी की जाती है कि उसमें स्त्रियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है। उसे (स्त्री को) अबला कहा जाता है, दूसरों की अपेक्षा कमज़ोर, लेकिन शायद शारीरिक रूप से ही, किसी और तरह से नहीं।

---

1. De aduterinis coningiia, II. 12

६

धार्मिक सहिष्णुता

: १ :

इतिहास में पहले कभी मानव-जाति मानवीय सहयोग की आवश्यकता के प्रति इतनी सचेत नहीं रही, जितनी कि अब है। अब तक धर्म एक-दूसरे के बीच दीवारें ही खड़ी करते रहे हैं, घेरों को तोड़ते नहीं रहे। सार्वभौम आन्दोलन प्रगति कर रहा है, संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा १९४८ में स्वीकार की गयी मानवीय अधिकारों की घोषणा में, धार्मिक स्वतन्त्रता के संपोषण को भी स्थान मिला है।[1] बहुत-से देशों के नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है और वह उनके संविधानों और कानूनों के द्वारा सुरक्षित है। अब रोमन कैथोलिक चर्च यह स्वीकार करता है कि हर व्यक्ति को अपनी संचेतना के अनुसार ईश्वर की आराधना करने का अधिकार है, हाँ, उसे नैतिक नियम और जन-व्यवस्था के क़ायम रहने-भर का ध्यान रखना होगा। यह भिन्न दृष्टिकोण रखने के अधिकार को स्वीकृति देता है।

जो कोई किसी दूसरे धर्म को नहीं जानता उससे ज़्यादा अपने धर्म को लेकर वृथाभिमानी कोई और दूसरा नहीं। अगर हम दूसरे धर्मों के क्लासिकों को जानते हैं तो हम उनकी प्रशंसा करेंगे और उनके दुख-सुख को जान सकेंगे। धर्म के प्रचारक कभी-कभी दूसरे धर्मों के प्रति घृणा फैलाने लगते हैं। यह बात

---

१. घोषणा-पत्र की १८वीं और १९वीं धारा :

धारा १८ : प्रत्येक व्यक्ति को विचार, विवेक और धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार है; इस अधिकार में उसको अपना धर्म या आस्था बदलने का अधिकार शामिल है, उसे यह भी स्वतन्त्रता है कि वह खुद या दूसरों के साथ मिलकर निजी तौर पर या सार्वजनिक रूप से अपने धर्म की शिक्षा व पालन की अभिव्यक्ति करे व उनका व्यवहार और पूजा करे।

धारा १९ : प्रत्येक व्यक्ति को विचार-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति का अधिकार है; इस अधिकार में बिना किसी हस्तक्षेप के मत बनाने और किसी भी माध्यम से, किसी भी जगह से जानकारी चाहने, माने और देने का अधिकार शामिल है।

सच्चे धर्म की भावना के साथ मेल नहीं खाती। तीव्र धार्मिक संघर्ष के युग में ह्यूगो ग्रोटियस ने ज़ोर देकर कहा था कि "इस बात में कोई तत्त्व नहीं है कि कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट एक-दूसरे पर अपनी खास कट्टरताओं को लादने का यत्न करें और उन्मत्त भावनाओं के बजाय अगर वे शान्तिपूर्ण ढंग से 'सोचें' तो मानवता को बहुत-सी अर्थहीन बरबादी और क्रूर यातनाओं से मुक्ति मिल जाएगी।" धार्मिक और अधार्मिक, दोनों की धर्मान्धता युद्धों को भले जन्म न दे, लेकिन वे घृणा, भ्रामक प्रचार, विकृति और अत्याचार के शस्त्रों का उपयोग करते हैं।

उपनिषद् 'यथार्थ' का उल्लेख प्रायः परम आत्मन् के रूप में करते हैं। दो चिड़ियाँ, जो सखी हैं और बराबर एक-दूसरे के साथ बँधी रहती हैं, उस एक आत्मन् रूपी पेड़ का सहारा लेती हैं। इन दोनों में से एक मीठा फल खाती है और दूसरी बिना खाए देखती रहती है।[१] दैवी मित्र बराबर हमारे साथ और हमारे भीतर रहता है। सभी धर्म इस बात के साक्षी हैं कि अनन्त, नित्य को भेदता है। हम 'ठोस' के माध्यम से विश्व को देखते हैं। "प्रकाशवान्, सबका रचयिता, लोगों के मन में बसने वाले महा-आत्मन्, प्रेम, अन्तर्दृष्टि और बुद्धि द्वारा उद्घाटित होता है, इसे जो कोई जान लेता है वह अमर हो जाता है।"[२] यथार्थ स्थिर है, लेकिन इसकी मानवीय समझ अस्थिर, परिवर्तनशील है।

प्रत्येक धर्म एक व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित होता है, एक मानवीय 'समझ' पर। और सभी अध्यात्म-विद्याएँ उस अनुभव को शब्दों में रूपान्तरित करने और उनके भावार्थ निकालने के अस्फुट प्रयत्न होती हैं। ईश्वर की महिमा, यथार्थ का रहस्य, इतने बड़े हैं कि मानवीय भाषा उनका वर्णन करने के लिए अपर्याप्त है। इसे कहा और सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। प्लेटो, किसी भी अन्ततोगत्वा-यथार्थ की प्रामाणिकता के बारे में सन्देह प्रकट करते हैं। "ऐसे विषयों पर न तो मेरा कोई लेख है, न कभी होगा। सामान्यतया विज्ञान जिस तरह का स्पष्टीकरण चाहते हैं, यह विषय उस तरह का स्पष्टीकरण नहीं चाहता। इस महत् क्रिया-कलाप में लम्बे समय तक स्वयं रहने के बाद और एक जीवन का साझीदार बनने पर ही, आत्मा में प्रकाश फूटता है। इसे उज्ज्वलित प्रकाश कहना चाहिए जो एक धधकती लपट से फूटता है और इसके

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

मुण्डक—३-१-१।

२. देखिए, कठोपनिषद्—१-३-१, श्वेताश्वतरोपनिषद्—६-६।
अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

बाद अपने-आपको जिलाए रखता है।"[१] क्यूसा के निकोलस की प्रार्थना इस सत्य को प्रमाणित करती है। "ओ स्वामी, मेरे ईश्वर, उनके सहायक जो तुम्हें ढूंढ़ते हैं। मैं तुम्हें स्वर्ग के द्वार पर निहारता हूँ और मैं नहीं जानता कि मैं क्या देखता हूँ, क्यों मैं न दिखलाई पड़ने वाले को देखता हूँ। मैं केवल यही जानता हूँ कि मैं जो कुछ देखता हूँ उसे नहीं जानता, और उसे कभी नहीं जान सकता। और मैं नहीं जानता कि तुम्हें क्या नाम दूं, क्योंकि मैं नहीं जानता कि तुम क्या हो और अगर किसी ने मुझसे कहा होता कि तुम इस या उस नाम से पुकारे जाते हो, तो केवल इसी बात से कि यह नाम उसका दिया हुआ है, मैं जान लेता कि यह तुम्हारा नाम नहीं है। क्योंकि मैं जिस दीवार के परे तुम्हें देखता हूँ, वह सभी नामों के ढंग के महत्त्व का अन्त है। कुछ भी पूरी तरह सच नहीं है, शायद यह भी पूरी तरह सच नहीं है।" हाफ़िज़ का कहना है कि सनातन गुत्थी को न तो कोई अब तक सुलझा सका है, न सुलझा पाएगा।

: २ :

अस्तित्व परम है। एक्सोडस में कहा गया है कि ईश्वर ने मोज़ेज़ (Moses) से कहा, "मैं हूँ जो कि मैं हूँ।" "अब्राहम के होने से पहले मैं हूँ।" संसार है। यह नहीं भी हो सकता था। अस्तित्व न होने के ऊपर होने की अभिव्यक्ति है। अस्तित्वधारी प्राणी हमें मूल अस्तित्व से परिचित कराता है। संसार हमें अस्तित्व प्रदान करता है, जिसकी हर वस्तु पर छाप है और हमें बस वस्तुओं को अस्तित्व धारण करते हुए देखना पड़ता है। जीवन और रचनात्मक क्षमता, गति और स्थिरता उसी अस्तित्व स्रोत, आत्मन् से फूटती हैं। स्वर्ग कहीं ऊपर नहीं, बल्कि हमारे भीतर है। "ईश्वर की सत्ता प्रेक्षण से नज़र नहीं आती है, न ही उन्हें यह कहना चाहिए कि 'लो वह यहाँ या वहाँ है, उसे ग्रहण करो, ईश्वर की सत्ता या राज्य तुम्हारे भीतर है।"[२] ज़ेन बौद्ध धर्म घटना या चमत्कार में प्रकटित ईश्वर को अस्वीकार करता है। यह अपने को प्रकटीकरणों से अलग करता है, जिससे कि उसके अप्रकटीकरण (नॉन-मैनीफ़ेस्टेशन) में यथार्थ को पा सके।

हिन्दू धर्म का मताग्रहरहित चरित्र इस प्रसिद्ध वैदिक स्तोत्र में प्रकट होता है :

"अनस्तित्व नहीं था, अस्तित्व तब था नहीं। दिक् नहीं था, न ही नभ-

१. एपिस्टल ७ (Epistle VII)।

२. ल्यूक १०. ७. २०।

मण्डल था। हलचल कैसे हुई, कहाँ, किसके नियंत्रण में ? क्या वहाँ जल था, अंतहीन गहराई थी ?

"तब यहाँ न तो मृत्यु थी न अमरता। रात और दिन में कोई भेद नहीं था। बिना साँस के आंतरिक शक्ति से साँस ली जाती थी; इसके अलावा, सचमुच, इसके आगे और कोई चीज़ नहीं थी।

"अँधेरा तब था, अँधेरे से ढँका हुआ, प्रारम्भ में; एक अलग न किया जाने वाला सागर बस यही। कौन-सा उत्सवादक सिद्धान्त शून्य में घिरा था—(अपनी) तीव्रता की क्षमता से वह जन्मा।

"तब प्रारम्भ में इच्छा का उदय हुआ जो कि विचार का पहला बीज था। अस्तित्व का सम्बन्ध सन्तों ने अनस्तित्व में पाया—समर्पण के साथ अपने हृदयों में आस्था और निष्ठा के साथ खोजते हुए।"

पुनः, "कौन सचमुच जानता है ? यहाँ कौन कह सकता है—कब उनका जन्म हुआ, कब यह सृष्टि हुई ? देवता इस ओर उदित हुए (बाद में), इसकी सृष्टि के द्वारा (इस प्रयोगसिद्ध संसार में, जिसके कि देवता हैं); तब कौन जानता है कि यह कब अस्तित्व में आई। इसकी स्थापना की गई या नहीं—जो उच्चतम स्वर्ग में इसका सर्वेक्षक है, वह सचमुच जानता है, शायद वह नहीं जानता।"

ताओ तेह चिंग कहता है : "देखने पर इसे देखा नहीं जा सकता, सुनने पर इसे सुना नहीं जा सकता।" अवधारणाओं का प्रयोग प्रतीकों के रूप में किया जाता है, जिनका मूल्य उनके शाब्दिक अर्थ में नहीं बल्कि उनकी सांकेतिकता में है। उन्हें तर्कशास्त्र की भावना में नहीं वरन् कविता की भावना में लिया जाना चाहिए। जब हम यथार्थ की अवर्णनीय प्रकृति पर इसके कर्त्ता और कर्म सम्बन्ध के अतिक्रमण पर, ज़ोर देते हैं, तब हम इसे परम (एब्साल्यूट) कहते हैं। जब हम इसकी ओर देखते हैं, सब अस्तित्व के रचनात्मक सिद्धान्त के रूप में, तब हम इसे ईश्वर-रूप में देखते हैं। परम और ईश्वर एक ही यथार्थ के दो रूप हैं। बौद्ध धर्म में ये दोनों रूप पाए जाते हैं। वहाँ परम निरपेक्ष है, अति-सत्तात्मक स्थिति, जिसे शून्य के रूप में वर्णित किया गया है—सनयात। अस्तित्व के बाहुल्य—संसार—की तुलना में यह कुछ नहीं है। अपने अंतरिक्ष-प्रकटीकरणों के संदर्भ में यह दैवी भी है। आनन्द-पूर्ण शून्य, जोकि सत्व-विद्या-विषयक यथार्थ है, को बुद्ध की अंतहीन करुणा के रूप में भी देखा जाता है। इस शून्य ने महायान में एक सैद्धान्तिक और ज़ेन बौद्ध धर्म में अभिव्यंजनात्मक रूप ग्रहण कर लिया है, जिसके प्रतिष्ठापक बोधि-धर्म हैं। जिस सूत्र में उनका नाम है, उसमें विमल कीर्ति यथार्थ की प्रकृति-सम्बन्धी बोधिसत्व मंजुश्री के प्रश्नों का उत्तर गड़गड़ाहट जैसे मौन से देता है।

सेन्ट ग्रेगरी पलामस का कहना है कि ईश्वर में जीव है, लेकिन उसे केवल इसी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। एरर्बार्ट के अनुसार ईश्वर "अस्तित्व (जीव) के ऊपर अस्तित्व और उसका अत्यावश्यक नकार है।" बोहमे के लिए परम (सुप्रीम) अस्तित्व का धरातल और गहराई है।

ईश्वर के रूप में अन्ततोगत्वा यथार्थ की प्रत्येक आस्था अपनी प्रकृति से बाँधने वाली होती है। सीमाएँ और घेरे निश्चित करती है। अस्तित्व के स्रोत और इस विश्व के स्रष्टा के रूप में एक निजी ईश्वर की मान्यता, उस दृष्टि को धुंधला करने और बाँधने वाली है, जो यथार्थ के महान् उद्भास को तुरन्त देख लेती है। यह उस सत्य के ज्ञान की स्वीकृति देती है जो बराबर ईश्वर के परे चली जाती है, यह ईश्वर का उन्मूलन नहीं करती, उसे सम्मिलित कर लेती है।

जब हम कहते हैं कि ईश्वर सत्य है, तब हमारा मतलब यह होता है कि वह एक आदिकालिक तथ्य या यथार्थ है और हमें चेतना और सत्य में उसकी पूजा करनी चाहिए। सत्य का कभी उपदेश नहीं दिया जाता, क्योंकि इसे अपने भीतर ही प्राप्त करना होता है। अंशों में छोड़कर कोई परमात्मा को नहीं जान सकता, क्योंकि परमात्मा में सब-कुछ सम्मिलित है, दृश्य और अदृश्य, प्रकटित और अप्रकटित।

मसनवी कहता है : "चन्द्रमा धारा में नहीं बल्कि आकाश में है।" इसका अर्थ है कि यथार्थ बाहर है, फ़िनोमिना-संसार से परे। यह भंगुर प्रतिबिम्व नहीं है। दर्पण मूल पर निर्भर करता है, और सब-कुछ के लिए उसका आभारी होता है। मूल को किसी दर्पण की आवश्यकता नहीं होती। एक सूफ़ी सन्त ने कहा था : "ईश्वर से साक्षात्कार के लिए उतने ही उपाय हैं, जितने कि मनुष्य-हृदय हैं। प्रत्येक ईमानदार प्रयत्न पवित्र होता है।"

: ३ :

ईश्वर बहुत प्रकार से वर्णित है। ये वर्णन दृष्टिकोण हैं, ज्ञान की वस्तु नहीं। यूनानियों के अनुसार, ईश्वर परम या निरपेक्ष यथार्थ है—चेतना। लातीनी तत्व-विद्याविद् ईश्वर को रोमन योद्धा के रूप में देखते हैं, शासक और नियम प्रदान करने वाला। अपनी सनातनता से संतुष्ट न होकर, ईश्वर धरती के मामलों में हस्तक्षेप करता है। कई बार उसे मानवीय भावनाओं के अधीन बताकर प्रस्तुत किया जाता है। वह व्यग्र करता है, खिझाता है, छलता है। वह झकझोरता है, छा लेता है और प्रताड़ित करता है। वह अपनी सनक के अनुसार न्याय करता है। उसकी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने वाली कोई संहिता नहीं है। ईश्वर कई धर्मों में आक्रामक निरंकुश राजा है, भयानकता और कुंठाओं से भरा हुआ। पालातिलिख

पारम्परिक आस्तिकता वाले ईश्वर को, 'ईश्वर के ऊपर' ईश्वर के पक्ष में अस्वीकार करते हैं, जो कि 'सब अस्तित्व का मूल' और मनुष्य की 'अंततोगत्वा चिन्ता' का स्रोत है। इसी तरह पादरी राबिन्सन पारम्परिक ईश्वर की उस धारणा को अस्वीकार करते हैं, जो कहती है कि वह 'वहाँ है', जो "अपने बनाए संसार के बाहर और उससे परे रहता है।" वे मनुष्याकार-ईश्वर के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं।

जब हम दैवी के काल्पनिक चित्रों को भावावेग के साथ स्वीकरते हैं तब हम असहनशील होने लगते हैं। घृणा असहनीयता से जन्मती है, और घृणा से प्रताड़ना का जन्म होता है। यहूदी-विरोध का उदय उस कहानी से हुआ; जिसके अनुसार ईसा की हत्या एक यहूदी ने की—एक ऐसी ग़लतफ़हमी जो दो हज़ार वर्ष पुरानी है। नेबुचैडनेज्जार से लेकर हिटलर तक, यहूदी लोग अपराधी ठहराये गए और टैसिटस द्वारा भी ऐसी बातें कही गई, जिसका कहना है : "मोसेस ने राष्ट्र को अपने प्रति ज़्यादा अधीन रहने के लिए, नये क़ानून व व्यवस्थाएँ बनाईं जो दूसरे सभी लोगों के प्रतिकूल थीं।"

यहाँ हम जिस सबकी पूजा करते हैं वह तिरस्कृत होता है : बदले में, हमारी दृष्टि में जो कुछ अशुद्ध है, वह ठीक ठहराया जाता है। दूसरी ओर यहूदी लोग निश्चयात्मक स्वर में यह कहते हैं कि संसार के साथ होने वाले ईश्वर के व्यवहार या कार्य-व्यापार में उनकी विशेष भूमिका रही है। ईश्वर ने यहूदियों को विशिष्ट होने के लिए चुना और मसीहाओं और संहिता-रचयिताओं द्वारा उनके सामने अपने से सम्बन्धित सत्य को उद्घाटित किया। ईसा का जन्म यहूदियों के बीच हुआ था।

ईसाइयत के 'लोगोस' (विवेक या शब्द) में हेराक्लीटस का संसार है। शरीर के रूप में शब्द ही ज्ञान है जिसे मानवीय अभिव्यक्ति मिली है। आइरेनियस का मत है कि ईसा इसीलिए संसार में आये और मनुष्य का जीवन बिताया, जिससे कि मनुष्य ईसा के साथ तुलनीय जीवन जी सके। जैसा कि बाद के तत्त्वमीमांसकों का कहना है, आदमी को भ्रष्टाचार और अपराध से छुटकारा मिलता है।

ईसा और ईश्वर-प्रधान को वर्णित करने के लिए बहुत से भिन्न प्रकार के उपाय निकाले गए। ओरिगेन ने पुत्र की सनातन पीढ़ी पर ज़ोर दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि चूंकि पुत्र सनातन में जन्मा, जो कि परिभाषा के अनुसार काल से परे है, इसलिए इस प्रक्रिया का कोई आदि, अन्त नहीं हो सकता। ईसवी ३१९ के लगभग एरियस ने कहा कि पुत्र एक जीव है, ईश्वर-रचित जीवों में पहला और पूर्ण, तथापि उसे ईश्वर ने नहीं रचा। जिस तरह से मानवीय पुत्र समय के लिहाज से अपने पिता के बाद का होता है, उसी तरह से बाद का दैवी-पुत्र समय के हिसाब से

दैवी-पिता के बाद का है। यहाँ एरियस ओरिगेन के अमुख्यवाद (सबॉर्डिनेशनिज़्म) को तर्कशास्त्र के अन्तिम छोर तक ले गया है। नाइसिया की काउंसिल (३२५) ने एरियस को अपराधी ठहराया और कहा कि पुत्र 'जन्मा, उसे बनाया नहीं गया और कि वह और पिता एक ही तत्त्व—अतिस्व—के थे। कैपाडोसिअन त्रयी—साइजेरिया का संट बासील, उसका भाई न्यासा का संट ग्रेगरी और उनका मित्र नाजीआनस का संट ग्रेगरी—इस बात की व्याख्या करते हैं कि किस तरह एक ईश्वर एक ही समय में तीन नहीं हो सकता। उन्होंने बताया कि प्रधान ईश्वर एक है, लेकिन इस एक के तीन वस्तुनिष्ठ प्रस्तुतीकरण हैं: पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा। ये तीनों एक-दूसरे से अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण अलग हैं, जो वस्तुतः अस्तित्व की रीतियाँ हैं। ईश्वर के उद्गम या स्रोत के रूप में पिता अजन्मा है, पुत्र जन्मा है, और आत्मा आगे बढ़ने वाली—चलती रहने वाली है।[१] ये तीनों प्रक्रियाएँ सनातनता में स्थानग्रहण करती हैं। नाज़ीआनस का संट ग्रेगरी कहता है कि "ईश्वर का कल्पना-बोध कठिन है, लेकिन उसे शब्दों में परिभाषित करना तो असम्भव है।"[२] संट अगस्टाइन ने कहा था, 'अवर्णनीय चीज़ों के बारे में बात करने के लिए बात करते हुए, जिससे कि हम किसी तरह उसे अभिव्यक्त कर सकने में सक्षम हों, जिसे हम पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सकते, हमारे यूनानी मित्रों ने एक सार और तीन तत्त्वों की बात कही है, लेकिन लातीनियों ने एक सार या तत्त्व तथा तीन व्यक्तियों की बात कही है।' वह सोचता है कि कोई-न-कोई स्थिति वैध है, क्योंकि "ईश्वर-प्रधान की श्रेष्ठता सामान्य वाणी की शक्ति को पीछे छोड़ देती है।"[३] त्रिमूर्ति का सिद्धान्त, ईश्वर के बारे में इन ईसाई अनुभवों के सत्य को परस्पर सम्बन्धित करने का प्रयत्न है, लेकिन वह हर चीज़ की व्याख्या नहीं करता।

ये सभी, ईश्वर प्रधान के आन्तरिक संगठन के मितव्यय को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न हैं। हमारे पास वह यथार्थ है जो सभी प्रयोगसिद्ध विशेषताओं को पीछे छोड़ देता है, यह यथार्थ निजी ईश्वर है जो विश्व का रचयिता और रक्षक है। हमारे पास ईश्वर-प्रधान के इन दो रूपों के लिए सन्तों की साक्षी हैं। जब यह कहा जाता है कि "मैं ही मार्ग सत्य और जीवन हूँ", "कोई भी पिता के पास केवल मुझमें से होकर पहुँचता है"[४], तब इसका अर्थ यह होता है कि सामान्यतः हम वैयक्तिक के माध्यम से अति-वैयक्तिक तक पहुँचते हैं।

---

१. देखिए: जॉन १. १४; १५. २६।
२. ओरेशन्स २८. ४।
३. देखिए: द ट्रिनीटी ७।
४. जॉन १४. ६।

जीवित आस्थाएँ स्वयं अव्यवस्थित हैं। अगर हम व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं तो हमें अपनी स्थितियों के प्रति पूरी तरह सचेत हो जाना चाहिए और देखना चाहिए कि हम कहाँ हैं।

ईश्वर के विभिन्न काल्पनिक प्रस्तुतीकरणों में हमें एक तात्त्विक अस्तित्व को देखना होगा जो विश्व से बड़ा है। ईश्वर को व्यक्ति रूप में बताना महज़ एक धारणा है, प्रतीकात्मक बात है। हम इस आधारभूत बात को अनदेखा कर जाते हैं कि धर्म, संघर्ष और प्रयत्न द्वारा, प्राणी की, अपने को अपने से ऊपर उठाने की इच्छा है। सभी व्यक्तियों में, क्या धार्मिक और क्या अधार्मिक, यह इच्छा होती है। प्रत्येक पीढ़ी प्रामाणिक मानवीय मूल्यों को पुनः ढूंढने का, और गतिरोध के रूपों का, जिन्हें प्रत्येक पीढ़ी में मनुष्य अपने कष्ट बढ़ाने के लिए गढ़ लेता है, विरोध करने का प्रयत्न करती है। हमें मृत्यु से टक्कर लेनी चाहिए और उस सच्चे जीवन की स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिए जो मृत्यु के स्वीकार से मिलती है।

ईश्वर ऐसा प्राणी नहीं है जो प्राकृतिक नियमों के उलट-फेर के लिए विश्व में हस्तक्षेप करता है। वह उन्हें सामान्य रूप से सम्पन्न होने देता है। हम इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सकते कि ईश्वर हमें रोग और विपत्ति भेजता है। ईश्वर हमारे भीतर सबसे गहरा है, जिस तक हमें प्रार्थना और ध्यान के सहारे पहुँचना होता है। द 'एक्ट्स ऑफ़ पीटर' ईसा के बारे में कहता है : "तुम्हीं मेरे पिता हो, तुम्हीं मेरी माता, तुम्हीं मेरे भाई, तुम्हीं मेरे मित्र, तुम्हीं मेरे दास हो, तुम्ही मेरे सेवक। तुम सब-कुछ हो और सब-कुछ तुममें है; तुम्हीं हो और तुमको छोड़कर और कुछ भी नहीं है।

"इसीलिए, भाइयो, तुम भी उसके पास जाओ और अगर तुम्हें यह पता चले कि तुम केवल उसी में रहते हो, तो तुम्हें वे चीज़ें प्राप्त करनी चाहिए जिनके बारे में वह तुमसे कहता है : जिन्हें न तो आँखों ने देखा है, न कानों ने सुना है, और न ही वे मनुष्य के हृदय में उतरी हैं।"[१] ये शैव, शाक्त और वैष्णव पद्धतियों में ईश्वर के प्रति कहे गए सुपरिचित स्तोत्रों की प्रतिध्वनियाँ हैं।

आस्था, पूजा, प्रार्थना, प्रेम मनुष्य की चेतना को गति देते हैं जिससे कि वह परमात्मा को पहले की अपेक्षा अधिक जानने लगता है। आदमी उसकी ओर देखता है, उसकी लालसा रखता है, उसकी प्रार्थना करता है और उससे प्रेम करता है। ईसा इतने विनम्र थे कि उन्होंने कहा : "जो शब्द मैं तुमसे कहता हूँ, वे मैं स्वयं नहीं कहता, बल्कि जो पिता मुझमें रहता है, वह कहलवाता है।"[२]

---

१. ई० टी० जेम्स, पृष्ठ ३३५।

२. जॉन १४.१०।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्—श्रद्धा विनम्रता, आदर और समर्पण का ही दूसरा नाम है। यह न तो अपना अनादर है और न अपनी प्रशंसा। यह एक उद्देश्य के लिए **स्व-व्यामर्ष** और उत्सर्ग है। यह सरलता है, आत्म-निर्भरता है, यह अहंकार और गर्व की अनुपस्थिति है। मार्ग-त्याग और आत्म-त्याग से होकर जाता है। **'मेरा नहीं, तुम्हारा होगा।'** हम धरती पर ईश्वर का राज्य स्थापित करना चाहते हैं। सेंट पाल हमसे निरन्तर प्रार्थना करते रहने को कहते हैं। ओरिगेन के अनुसार, सन्तों का सम्पूर्ण जीवन "एक अकेली महान निरन्तर प्रार्थना है।" इसका पुरस्कार केवल मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति नहीं है, बल्कि मनुष्य के हृदय में ईश्वर का प्रकटीकरण है।

ज़रथुष्ट्र की मुख्य शिक्षा यही है कि हम अपने मस्तिष्क को अच्छे विचारों, अच्छे शब्दों और अच्छे कार्यों से भरते हैं। कर्म-काण्ड और धार्मिक रीतियाँ इनसे पलायन हैं। धार्मिक ग्रन्थों में उन लेखकों का आध्यात्मिक अनुभव वर्णित है जिन्होंने सुदूर काल और भिन्न भाषाओं में आत्मा के क्षेत्रों को भिन्न स्थितियों में उद्घाटित किया। अनुभव का एक धक्का पूरे विश्व को आपस में मिला देता है। हमें समुदाय के खोए बोध को पुन: प्राप्त करना होगा, घृणा, द्वेष और असहनीयता से छुटकारा पाना होगा, और उस अति प्राकृतिक यथार्थ को पहचानना होगा, जिसमें कि हम सभी एक हैं।

सन्त का जीवन, ध्यान के जीवन में पूर्ण नहीं होता। बन्धु-बान्धवों की सेवा और सक्रिय जीवन भी उसमें निहित हैं। बोध-प्राप्ति के बाद बुद्ध ने कष्ट पा रहे प्राणियों के प्रति करुणावश, पवित्र सत्य का उपदेश सभी मनुष्यों को दिया। मीस्टर एखार्ट ने कहा कि अगर किसी को परमानन्द में भी एक ग़रीब आदमी सूप की ज़रूरत में दिखाई पड़े तो उसके लिए श्रेयस्कर यही है कि वह परमानन्द को छोड़कर ज़रूरत में पड़े आदमी की सेवा करे। सभी धर्म हमको भ्रातृवत् प्रेम का उपदेश देते हैं। प्रेम ज्ञान से अभिन्न है। अच्छाई और सब-कुछ को लपेटती रखवाली ताओ की विशेषता है। महायान बौद्ध धर्म के अनुसार, दैवी यथार्थ का सबसे भीतरी सार, **महा-करुणा-चित्तम है,** यह हृदय सभी मनुष्यों के लिए खुला रहता है। जिस तरह चन्द्रमा का प्रकाश हर प्रकार के जल में प्रतिबिम्बित होता है, फिर वह चाहे गँदला हो या निर्मल, नदी, झील या समुद्र का हो, उसी तरह से प्रेम का दैवी हृदय समूची मानव-जाति के लिए खुला रहता है, ऊँच-नीच, सन्त या पापी, सबके लिए। मसीहाओं में से **हादीथ** कहता है: "जब सेवक स्वामी की ओर एक पग बढ़ाता है, तब स्वामी अपने सिंहासन से उठकर खड़ा हो जाता है, और अपने सेवक से मिलने के लिए सौ पग रखता है।"

समर्पण, आत्म-निवेदन की भावना धार्मिक जीवन को बनाती है। हमारे पास एक उद्‌देश्य होना चाहिए, जीने-मरने के लिए कोई निमित्त। उद्देश्य का यह अभाव ही हमारे जीवनों को अस्थिर, आकस्मिकतापूर्ण और अर्थहीन बनाता है। कई आत्म-सन्तुष्ट लोगों की 'मैं ही सही हूँ' की भावना और अर्थहीन अहंकार के कारणों को ज्ञान, पवित्रता और स्वस्थ मस्तिष्क के अभाव में ढूँढ़ा जा सकता है। समर्पण को क्षय के हाथों में नहीं पड़ जाना चाहिए और उत्साह को नैराश्य में नहीं समाप्त हो जाना चाहिए।

"जो क्रोध में धीमा है वह शक्तिशाली से बेहतर है, और जो अपनी आत्मा पर राज्य करता है, वह एक नगर को विजय करने वाले से बेहतर है।"[1] आत्म-नियन्त्रण जीवन के सुमेल में हमारी सहायता करता है।

आज धर्मों में मुठभेड़ नहीं, बल्कि उनका मिलन है। पचास वर्ष पहले, दूसरे धर्म में जो कुछ मूल्यवान है उसे प्राप्त करने का प्रयत्न अपनी आस्था के प्रति छल कहलाता। विभिन्न जीवित आस्थाओं के प्रतिनिधि-नेता आपसी समझ के प्रति कटिबद्ध हैं। वे धर्मों के उभय उद्देश्य पर ज़ोर देते हैं, उन पर नहीं जो उन्हें अलग करते हैं। आज कोई भी धर्म मात्र पुनर्प्रतिष्ठा या अतीत के दुहराव पर जीवित रहने की बात नहीं सोचता। सभी धर्म सामान्य धरोहर पर ज़ोर देते हैं और आपसी आदर-भाव और समझ-बूझ के मार्ग पर आगे बढ़ने की विनय करते हैं। हम अनुभव करते हैं कि हम एक ही खोज के साझीदार हैं।

धर्मों के आपसी मिलन ने, इन धर्मों की जीवनी-शक्ति में योग दिया है। धार्मिक अलगाव या अकेलापन अब बिलकुल सम्भव नहीं रहा। आज धर्म के विद्यार्थी की एक ज़िम्मेवारी यह है कि वह दूसरे धर्मों के अस्तित्व को समझे, प्रत्येक के खास ढाँचे, पृष्ठभूमि और उसके अपने दावे को। विभिन्न धार्मिक परम्पराएँ एक ही भावना से शासित होती हैं और मनुष्य और विश्व दोनों की मुक्ति के लिए काम करती हैं। सब धर्मों का उद्देश्य ऐहिक उद्धार है।

हम परमात्मा को जो भिन्न नाम देते हैं वे एक ही परमात्मा के लिए हैं।

"तुम, ओ अग्नि, जन्म लेने पर वरुण हो। जब जलाइ जाती हो तो **मित्र** हो जाती हो। ओ शक्ति के पुत्र, तुममें सभी ईश्वर हैं। तुम पुण्यात्मा मनुष्य के लिए इन्द्र हो।" और **भिन्न नाम** ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी एक के ही तीन संदर्भों—रचना, पालन और संहार—के लिए हैं।[2] विश्व के सभी धर्म, अपनी उच्चावस्था में, हमसे यह अपेक्षा करते हैं कि हम एक-दूसरे को विनम्रता और मैत्री की भावना

१. प्रॉवर्ब – १६/२३।

२. सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य विभाग योगाद् ब्रह्मेति विष्णुर् इति रुद्रा इति प्रतीति।

में समझें। परमात्मा का एक जीवित संस्पर्श पाने में जो कुछ भी हमारी सहायता करता है, उसकी छूट है।

वेद, धरती के लोगों से साथ चलने, साथ बातचीत करने और साथ सोचने की बात करते हैं जिससे कि धरती में शांति स्थापित हो सके। गांधी हमसे कहते हैं: "मैं वेदों की अनन्य दिव्यता पर विश्वास नहीं करता। मेरा विश्वास है कि बाइबिल, कुरान और ज़ेन्द-अवेस्ता में उतनी ही दैवी-प्रेरणा है जितनी कि वेदों में···हिन्दू धर्म एक मिशनरी धर्म नहीं है। इसमें विश्व के सभी मसीहों की पूजा के लिए स्थान है···हिन्दू धर्म सबसे अपनी आस्था या धर्म के अनुसार ईश्वर की पूजा करने को कहता है, और इसलिए यह सभी धर्मों के साथ शांतिपूर्वक रहता है।[1] बुद्ध कहते हैं: "ऐसा कभी मत सोचो या कहो कि तुम्हारा अपना धर्म ही श्रेष्ठ है। दूसरों के धर्मों को कभी अस्वीकार मत करो···बल्कि उनमें जो कुछ आदर-योग्य है, उसका आदर करो।" तालमुद कहता है: "सभी देशों की पुण्यात्माओं का आगत जीवन में साझा होना चाहिए।" न्यू टेस्टामेंट कहता है: "ईश्वर ने सभी देशों के मनुष्यों को एक ही रक्त का बनाया है।"[2] "वास्तव में, चाहे विश्वास करने वाले हों या वे जो यहूदी या इसाई या साबाई हैं, जो भी ईश्वर में और अंतिम दिन में विश्वास करते हैं तथा उचित रूप से कार्य करते हैं, उन्हें अपने स्वामी के हाथ से पुरस्कार मिलता है और उनके लिए कोई भय नहीं है, न ही उन्हें दुःखी होना चाहिए।"[3] ये सभी हमें बिना विग्रह और घृणा की विश्व-एकता के लिए निमंत्रित करते हैं। आओ हम इस सामान्य हित को उद्देश्य की एकता में परिवर्तित करें।

हिन्दू चिन्तन उस एक की यथार्थता में विश्वास करता है जिसे कई रूपों में वर्णित किया जाता है। समर्पण के लिए अपनाया गया द्वैत भाव, अद्वैत से भी अधिक सुन्दर है।[4] पूजा के अपरिपक्व रूपों से शुरू करके पुजारी को उत्तम रूपों की प्राप्ति करनी चाहिए। पहली अवस्था मूर्ति-पूजा की है, दूसरी ध्यान और प्रार्थना की है, इससे भी श्रेष्ठ मानसिक पूजा है, जो ध्यान 'मैं ही वह हूँ' वाले रूप का है वह श्रेष्ठतर होता है।[5] भारत में पाई जाने वाली सभी विभिन्न परम्पराएँ

---

१. "सभी धर्म एक ही लक्ष्य को जाने वाले अलग-अलग रास्तों की तरह हैं।" (हिन्द स्वराज)
"सभी धर्म एक जैसे नैतिक कानूनों पर आधारित हैं, मेरा नैतिक धर्म उन नैतिक कानूनों से बना है जो सारी दुनिया में मनुष्यों में एका बनाते हैं।" (ईथीकलरिलीजन)
२. एक्ट १७/२६।
३. कुरान सुरा II. ५९।
४. भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतद् अपि सुन्दरम्।
५. प्रथमा प्रतिमा पूजा, जप-स्तोत्राणि मध्यमा। उत्तमा मानसी पूजा, सोऽहं पूजोत्तमोत्तमाः॥

आदर-भाव से स्वीकृत और समर्पित की जाती थीं।[1] भारत में वैदिक और तान्त्रिक ये दो स्कूल प्रमुख हैं। तन्त्र वह है जो रक्षा करता है और विस्तार देता है।[2] 'शरीर के स्तर पर मैं ईश्वर का सेवक हूँ, मस्तिष्क द्वारा कार्य करने वाली व्यक्तिगत आत्मा के स्तर पर, मैं ईश्वर का एक अंश या पक्ष हूँ; लेकिन अपनी आत्मा (या शुद्ध आत्मन्) के पक्ष से मैं ईश्वर के साथ एक हूँ। यह मेरा निश्चित मत है। विद्यारण्य के **शंकर विजय** में भी यही विचार मिलता है। एक हिन्दू लेखक कहता है, हृदय से मैं शाक्त हूँ, बाहर से शैव हूँ और मिलन-गोष्ठियों में मैं वैष्णव हूँ।[3] ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक हैं। **अमृत-बिन्दु उपनिषद्** कहता है कि सारथी के रूप में विष्णु के साथ हमें ओंकार रथ पर बैठना चाहिए, रुद्र की पूजा करनी चाहिए और ब्रह्मलोक पहुँचना चाहिए।

जिस विश्व में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का प्रभुत्व है, इनकी प्रबलता है, वहाँ मैत्रीपूर्ण सहयोग और सह-अस्तित्व स्वाभाविक मालूम पड़ते हैं। अणु-अस्त्रों की वृद्धि के साथ सहयोग की आवश्यकता की तत्काल ज़रूरत है। अगर उच्चतम आवश्यकताओं के कारण नहीं तो आत्म-संरक्षण के लिए ही दूसरे धर्मों को समझना, उनके मूल्यों को सराहना और उनके साथ सहयोग करना आवश्यक है। जुदा धर्म, ईसाइयत और इस्लाम अब दूसरे धर्मों के प्रति पहले की अपेक्षा कम अनुदार हैं। अब हम अपनी आस्था के प्रति ही परीक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं। कम-से-कम हम भीतरी सत्य को जानने के बारे में मानवीय मस्तिष्क की सीमाओं और उसकी अपर्याप्तता को स्वीकार करते हैं। हालाँकि सत्य के प्रति अपने धर्म की अनन्य पर्याप्तता को बढ़ा-चढ़ाकर बताने का मोह किसी को हो सकता है, लेकिन अब हम जानते हैं कि दूसरे अपने धर्मों के प्रति ऐसा ही अनुभव करते हैं, और ऐसे ही दावे सामने रखते हैं। हम सभी मानवीय मस्तिष्क की भ्रामकता से परिचित हैं। इसके अलावा, यह स्वीकार करना आसान नहीं है कि ईश्वर ने मानवता के एक भाग के साथ पक्षपात किया है। उसके बारे में यह नहीं सोचा जा सकता कि उसके प्रिय पात्र हैं। अगर ईश्वर प्रेम है तो वह अपने सभी जीवों का रचयिता है और उसने सभी के सम्मुख अपने को प्रकट किया होगा। इसीलिए सभी प्रकटीकरणों को प्रामाणिक मानना होगा।

आज ईसाइयत में एकता-बोध बढ़ रहा है। इंग्लैंड के चर्च के अनुयायी, प्रेसबाइटेरियन, मेथाडिस्ट, बैप्टिस्ट और स्वतन्त्र चर्च, अपने बीच एकत्रित होने

---

१. देखिए, कुल्लूक भट्ट।

२. तन्यते विस्तारयते।

३. अंतः शाक्तो बहि शैवो सभामध्ये तु वैष्णवः।

में, और प्रमुख विषयों पर बातचीत करने में सक्षम हैं। कार्डिनल बी की अध्यक्षता में वैटिकन में स्थापित एक सेक्रेटेरियट सभी ईसाइयों में एकता-बोध के लिए यत्न कर रही है, चाहे उनका धार्मिक विश्वास जो भी हो। कैंटरबरी के आर्कबिशप, डॉ० रामसे और वर्तमान पोप के बीच हुए संवाद से ईसाई उदारता पर आधारित भ्रातृत्व संबंधों के विकास की एक नयी शुरुआत होती है, और उन सच्चे प्रयत्नों की भी जो विवाद के कारणों को समाप्त करके एकता स्थापित करना चाहते हैं, "उन चीज़ों को भुलाकर जो पीछे छूट गयी हैं और उन चीज़ों में पहुँचकर जो सामने आने वाली हैं।"[१] हमें सत्य में एकता के लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। प्रोटेस्टेंट अध्यात्मविद्याविद् कार्ल बार्थ अपनी मौलिक आस्था के प्रति अनिश्चित हो उठा है। वह कहता है, "आजकल दोनों पक्ष एक-दूसरे को जानना चाह रहे हैं और एक-दूसरे को समान स्तर से देखते हैं, जबकि पुराने दिनों में वे एक-दूसरे को लगभग जानते ही नहीं थे।" लौह-दीवार टूट गयी है। यह एक साथ मिलना धार्मिक उदासीनता या निरपेक्षता की बाढ़ के कारण नहीं है। यह बड़े होने का, बड़ी प्रौढ़ता का चिह्न है। इतिहास के लिए दो हज़ार वर्षों का समय लम्बा नहीं है। यही भावना उन सब तक पहुँचानी है जिनके मन में ईश्वर-प्रेम है और जो मनुष्य की सेवा को अपना सबसे पहला कर्तव्य मानते हैं। इस बात की काफ़ी आशा की जानी चाहिए कि आने वाले युग में असहनशीलता और धार्मिक मताग्रह समाप्त हो जाएँगे और बन्धुत्व और सुमेल बनेंगे।

समय आ गया है कि हम एकता की भावना में इकट्ठे हों, ऐसी एकता जो वह समृद्धि समेटती है जिसमें दूसरे धार्मिक विश्वासों की धार्मिक यथार्थताएँ नष्ट न हों बल्कि एक ही सत्य की मूल्यवान अभिव्यक्त के रूप में सँजोयी जाएँ। हम उन यथार्थ और स्वतःस्फूर्त प्रवृत्तियों को समझते हैं जिन्होंने विभिन्न धार्मिक विश्वासों को रूप दिया। हम मानवीय प्रेम के उस स्पर्श, करुणा और सहानुभूति पर ज़ोर देते हैं जो धार्मिक आस्थाओं के कृति-व्यक्तित्वों की कृतियों में भरी पड़ी हैं। धार्मिक आयाम के अतिरिक्त मनुष्य के लिए कोई भविष्य नहीं है। धर्म के तुलनात्मक इतिहास की जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के सिद्धांत में अनन्य आस्था नहीं रख सकता। हम जिस संसार में श्रम करते हैं उसके साथ हमें एक संवाद स्थापित करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम धर्मों की लक्षणहीन एकता के लिए काम करें। हम उस भिन्नता को नहीं खोना चाहते जो मूल्यवान आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि को घेरती है। चाहे पारिवारिक जीवन में हो या राष्ट्रों के जीवन में या आध्यात्मिक जीवन में, यह भेदों को एक साथ मिलाती है,

१. फिलिप्पियन्स III. १३।

जिससे कि प्रत्येक की सत्यनिष्ठा बनी रह सके। एकता एक तीव्र यथार्थ होना चाहिए, मात्र मुहावरा नहीं। मनुष्य अपने को भविष्य के सभी अनुभवों के प्रति खोल देता है। प्रयोगात्मक धर्म ही भविष्य का धर्म है। धार्मिक संसार का उत्साह इसी ओर जा रहा है।

दूसरे धर्मों का अध्ययन अपने धर्म को समझने के लिए आवश्यक है और यह किसी की भी सामान्य संस्कृति का एक मूल्यवान अंग है। यह सही है कि कोई भी विश्व के सभी धर्मग्रन्थों में पारंगत नहीं हो सकता। हाल में हुई प्रगति के संदर्भ में हमें एक नये समाधान और दृष्टिकोण के लिए काम करना चाहिए, आपस में सुमेल से रहने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए। महान् भविष्यदर्शी हमारे सामने नये मनुष्य को उद्घाटित करते हैं।[१]

---

१. प्रोफ़ेसर डब्ल्यू० ई० हाकिंग, महान् धर्मों के सहयोग व साझेदारी पर आधारित आने वाली विश्व-सभ्यता की आशा करते हैं, उनकी यह आशा 'धर्मों के नष्ट न होने वाले तत्त्वों के बीच एका बढ़ने, विभिन्नता को समझकर स्वीकार करने और एक महत् ऐतिहासिक कार्य में उद्देश्यों के शांत सम्मिश्रण' पर आधारित है।

७

इतिहास का अर्थ

: १ :

यूनानी-रोमन संसार के प्राचीन इतिहासकार थ्यूसीडाइडस, हेरोडोटस, टैसिटस, लाइवी, प्लूटार्क इतिहास को वैज्ञानिक ढंग से देखने की अपनी लालसा के बावजूद यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य इतिहास को दिशा देते हैं और इसलिए मानव-प्रकृति का अध्ययन इतिहासकार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

हेरोडोटस का कहना है कि उसने इसलिए लिखा, "जिससे कि समय मानवीय उपलब्धि की स्मृति को मिटा न सके और जिससे कि यूनानियों और बर्बरों के महान् और उल्लेखनीय कार्य, सम्मान के पारितोषिक से वंचित न रह जाएं।" टैसिटस गुणों की प्रशंसा की अपेक्षा बुराई की भर्त्सना में अधिक रुचि लेते मालूम पड़ते हैं। वह कहते हैं, "पहले यह बात इतनी ज्यादा कभी साफ़ नहीं हुई थी कि देवता हमारी भलाई या रखवाली की उतनी परवाह नहीं करते जितनी कि हमें दण्ड देने की।" नैतिक न्याय व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मानता है, आत्मन् की शक्ति को और इस या उस विकल्प के चुनाव को। जो कुछ मानवीय है उसकी गणना नहीं की जा सकती।

मनुष्य एक क्षेत्र है, जहाँ यथार्थ और आदर्श के तनाव को सहना पड़ता है। हेगेल कहता है: "मैं ही संघर्ष हूँ।" व्यक्ति आत्मा का वाहक है, जिसके माध्यम से उच्च संसार अपने को अभिव्यक्त करता है। राजा इतिहास-निर्माता है।[१] यह राजा का कर्तव्य है कि वह नागरिकों को आध्यात्मिक विकास की सुविधाएँ प्रदान करे। चाहे जैसा कार्य हो, उसे उनसे प्रेमपूर्वक करवाना चाहिए।

अच्छाई और बुराई का द्वंद्व कभी समाप्त नहीं होता। यह कभी अन्तिम रूप से निर्णीत नहीं होता। अगर हम मैत्री की पुकार को नहीं सुनते तो हम अपनी प्रकृति के प्रति झूठे होंगे। प्रेम जीवित रहेगा क्योंकि मनुष्य का पूर्ण-तोष प्रेम के नेतृत्व के पीछे चलने में है। मनुष्य जाति का बचाव मूर्खता और पूर्वाग्रह पर बुद्धि और ज्ञान की विजय के ऊपर निर्भर करता है।

---

१. राजा कालस्य कारणम्।

मानवीय इतिहास अविभाज्य इकाई है। यह असम्बद्ध घटनाओं का जोड़ नहीं है। हो सकता है कि इतिहास के किसी टुकड़े में अर्थ या उद्देश्य दिखाई न दे, लेकिन कुल मिलाकर देखने पर हम उसका तात्पर्य और अर्थ पाते हैं।

जिन्होंने कई विपत्तियाँ देखी हैं, दुनिया का बहुत-कुछ नष्ट होते देखा है, वे गेटे के साथ सहमत होने को तैयार हैं: "विश्व इतिहास: यह सबसे अर्थहीन चीज़ है।"

मानव-समाज, मानवीय सम्बन्धों के एक जाल से बुना गया है। इसे यन्त्र-विन्यास के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। कुछ अंशों में आदमी एक यन्त्र-विन्यास होता है, कुछ अंशों में जैव-प्राणी, लेकिन इसके अलावा उसके पास चेतना होती है और चुनाव करने की क्षमता। एक प्राणी के रूप में मनुष्य मर्त्य है, उसका एक निश्चित जीवन-काल होता है, लेकिन अगर एक समूह को क्षति होती है तो आदमी को ही, दल के एक सदस्य को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है। जो लोग मानवीय चेतना की उच्चता पर ज़ोर देते हैं वे यह मानते हैं कि मानव-जाति सुदृढ पगों से अपनी उच्चतम आकांक्षाओं की पूर्ति की ओर बढ़ रही है—आत्मा की स्वतन्त्रता और क़ानून के शासन की ओर।

हम यह नहीं कह सकते कि ऐतिहासिक प्रक्रिया किसी आध्यात्मिक उद्देश्य की ओर बढ़ने वाली प्रक्रिया है। इतिहासकार राँके ने अनुभव किया कि "मानव-जाति के भीतर स्वयं कई विकासों के बीज विद्यमान रहते हैं; वे एक के बाद एक जन्म लेते हैं, और वे महान् और रहस्यमय नियम, जो इस प्रक्रिया को नियन्त्रित करते हैं, हमारी दृष्टि से छिपे रहते हैं।" इस दृष्टिकोण के अनुसार, इतिहास के अन्ततोगत्वा-लक्ष्य के मार्ग पर कोई भी ऐतिहासिक घटना 'स्टेशन' नहीं बनती। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक घटना का अपना उद्देश्य होता है।

अन्तिम लक्ष्य की ओर मानवता की प्रगति का विश्वास, आदमी के विज्ञान और टेक्नालॉजी पर अधिकार से समर्थित होता है। यह हमारी ज़िन्दगियों के बाहरी ढाँचों से सम्बन्धित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि टेक्नालॉजी की प्रगति ने हमारे जीवन को समृद्ध किया है, लेकिन इसने उसे ख़तरे में भी डाल दिया है। लेकिन क्या हम यह कह सकते हैं कि हमने दार्शनिक खोजों में प्रगति की है? मानव-अस्तित्व द्वारा प्रस्तुत महान् प्रश्नों के साथ उलझते हुए हम पाते हैं कि कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। दार्शनिकों के महानतम प्रयत्न, पिछली सदियों के चिन्तन से ज़्यादा आगे नहीं जाते।

क्या मानवीय मामलों में नैतिकता की भूमिका प्रभावकारी बन सकी है? जिस तरह से राष्ट्र व्यवहार कर रहे हैं, उससे हम सामान्य बुद्धि में कोई वृद्धि नहीं

पाते। शक्ति की ओर राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक प्रभुत्व की लालसा से ही सब-कुछ चालित होता मालूम पड़ता है। हम बुराई की शक्ति को कम नहीं आंक सकते और स्वचालित प्रगति में विश्वास नहीं कर सकते। प्रगति जीवन का आधार-भूत नियम नहीं है। इतिहास की आकस्मिकता मनुष्यों के स्वतन्त्र चुनाव के कारण है। प्रत्येक चुनौती का सामना हम सुमेल और स्वतन्त्रता के हितों के लिए करते हैं। इतिहास की प्रसव-वेदना अच्छाई और बुराई का द्वंद्व है। हमें भीतरी और बाहरी अन्तर्विरोधों के साथ लड़ना होगा और सत्य और न्याय की लड़ाई लड़नी होगी। कोई पूर्वनिर्धारित ढंग नहीं है। यहाँ आकस्मिकता और अनिर्दिष्ट का खेल है, मानवीय इच्छा के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जीने के लिए उसे ग़ैर-मानवीय परिवेश और साथी मनुष्यों से समझौता करना पड़ता है। आपसी सहयोग द्वारा हमने अपने ग़ैर-मानवीय परिवेश पर अधिकार पा लिया है। हम मानवीय परिवेश पर अधिकार पाने में इतना सफल नहीं हुए। यही ट्रेजिडी है। विज्ञान और टेक्नालॉजी के विकास ने हमारी बौद्धिक प्रगति और नैतिक ठहराव की दूरी को बढ़ा दिया है। अगर मानव-जाति आत्म-विनाश के अभिशाप को ढो रही है तो इसका कारण वह स्वयं है। अगर हम एक-दूसरे के साथ सुमेल से रहें तो जो यंत्र धरती पर स्वर्ग उतारने में हमारी सहायता कर सकते हैं, वे विनाश की धमकी देते हैं क्योंकि हम एक-दूसरे से लड़ रहे हैं।

विश्व में अशान्ति की भावना व्याप्त है, क्योंकि विश्व, एक पुरानी व्यवस्था जो खत्म हो रही है और एक जो जन्म लेने के लिए छटपटा रही है, के बीच परिवर्तनावस्था से गुज़र रहा है। यह सम्भव है कि पुरानी व्यवस्था की मृत्यु हो जाए। हम इस बारे में निश्चित नहीं हो सकते कि नयी का जन्म होगा। इतिहास, जितना कि हम जानते हैं, उतार-चढ़ावों से भरा है। यह वैविध्य-भरा, स्वेच्छाचारी और अनिश्चित है। मनुष्य की स्वतन्त्रता की सीमाएँ हैं। वह जैव, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक स्थितियों से स्वतन्त्र नहीं है। वह इन स्थितियों का सामना करने के लिए ज़रूर स्वतन्त्र है और उनके बारे में अपना दृष्टिकोण बनाने के लिए भी। भविष्य खुला है, और भविष्य-रूप हमारे चयन पर निर्भर करेगा। जिनका मस्तिष्क कल्पनाशील है और जिनके पास अव्यवस्था, व्यर्थता, अर्थहीनता, जीवन के रहस्य और दुःख को अनुभव करने की चेतनता है, वे अपने पूर्ण अस्तित्व के सन्तोष और विश्व की उन्नति से ही शान्ति पा सकते हैं। सचेतन मनुष्यों को इन प्रयोगों से होकर गुज़रना पड़ेगा।

: २ :

समय और समयहीनता, **प्रकृति** और **अति प्रकृति** मनुष्य के जुड़वां पक्ष हैं। वह दोनों ही है, पारलौकिक और इहलौकिक, पवित्र और निरपेक्ष। धर्म की स्वयं दो दिशाएँ हैं, समयहीन की पूजा की ओर, अस्थायी की सेवा की ओर। भगवद्गीता हमसे ध्यान और कार्य करने के लिए कहती है। हमें **कृष्ण** के **योग**, अन्तर्दृष्टि की ध्यानशीलता और अर्जुन के धनुष, व्यावहारिक योग्यता, को मिलाना होगा।

धर्म विश्व से पलायन नहीं है बल्कि विश्व में काम करने के लिए एक प्रेरणा है। मनुष्य इस संसार का और इस संसार के परे का है। आध्यात्मिक जीवन में सक्रिय और ध्यानशील पक्ष मिले हुए हैं और वह इनसे श्रेष्ठ है। ईसा का मार्ग कर्म का ही है। हम विश्व में और विश्व के द्वारा, संताप से प्रसन्नता की ओर बढ़ते हैं, सन्देह से आस्था की ओर।

ईसाइयों के अनुसार अवतार का ईसाई सिद्धान्त समय को नष्ट नहीं करता बल्कि इसे एक बिलकुल नये आयाम की ओर ले जाता है। अवतार सर्व-प्रधान क्रिया है जिसके द्वारा ईश्वर ने मनुष्य की प्रकृति की मौलिक सत्यनिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए मानवीय इतिहास में हस्तक्षेप किया। मनुष्य कितना ही विनम्र क्यों न हो, उसका स्वाभाविक मूल्य, समयहीन तत्त्व है, उसके भीतर की चेतना जो आत्मा है।

स्वतन्त्रता शर्तहीन और शर्तवाली स्थिति है। ये दोनों भिन्न इकाइयाँ नहीं हैं। **निर्वाण** और **संसार** एक ही हैं। वह **धारा** जो बौद्धों की **महाकरुणा** का अंग है, वस्तुतः वह स्थिर-स्थिति और अस्थिर-स्थिति के अद्वैत का अनुभव है। जागरण की स्थिति, प्रकाश, स्वतंत्रता की स्थिति है, साथ ही सभी चेतनाशील जीवों के प्रति अनंत प्रेम की भी। यह मानव-मात्र के भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण की दिशा में किए जाने वाले प्रयत्नों के रूप में प्रकट होता है।

बारहवीं सदी में एक इतालवी मठाधीश जोआचिम डी फिओरे ने यह विचार प्रकट किया कि इतिहास की तीन अवस्थाएँ हैं—ओल्ड टेस्टामेंट में पिता की, ईसाई युग के हज़ार वर्षों में पुत्र की, और तीसरी स्थिति दैवी चेतना की है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को चेतना, बिना किसी संगठन के ध्यान के, प्रत्यक्ष रूप से शिक्षित करेगी। जब सामाजिक समानता स्थापित हो जाएगी तब इतिहास समाप्त हो सकता है। इस युग में आध्यात्मिक व्यक्ति ही इतिहास का प्रतिनिधि है।

बिना किसी श्रेष्ठता के सिद्धान्त या आत्मन् के, मनुष्य केवल यांत्रिक प्रक्रियाओं, नाड़ी-जाल और संश्लिष्टियों का आकस्मिक उत्पादन नहीं है। विश्व

को अंधी शक्तियों का अर्थहीन नाटक नहीं माना जा सकता। विश्व का एक अर्थ है और मनुष्य के पास एक उच्चतर विचार है, जो उसे मौलिक मूल्य प्रदान करता है, जो उसकी वर्तमान दुरवस्था से उसकी रक्षा करेंगे। मनुष्य, प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया की शिखर-रचना मात्र नहीं है।

तात्त्विक चिन्तन, जो अपने को अनुभव पर आधारित करता है, यह मानता है कि प्रकृति आवश्यकता की धारणा से, और आत्मन् की प्रकृति स्वतन्त्रता की धारणा से ग्रहण की जाती है। बिना इस धारणा के आदमी की प्रकृति की हमारी समझ अधूरी और विरूपित होगी। जबकि मनुष्य और प्रकृति दोनों ही ईश्वर की रचना हैं, मनुष्य का अस्तित्व ईश्वर की कल्पना[1] में साकार होता है, और इसलिए प्रकृति के अस्तित्व से नितान्त भिन्न है। मानव चिन्तनशील भूत (अथवा पदार्थ) नहीं है; यद्यपि 'चिन्तनशील भूत' 'साकार भूत' से भिन्न है, फिर भी वह ('भूत' (अथवा पदार्थ) अवश्य है, यानी एक बहिर्गत विचार जो 'व्यक्तिगत अहं' नहीं है।

हम मनुष्य को वैज्ञानिक रूप से नहीं समझ सकते, मानो कि वह केवल असामान्य रूप से उलझी हुई प्रकृति की वस्तु हो। एक वस्तुनिष्ठ लेखा-जोखा आदमी को वैयक्तिकता-रहित कर देता है और आदमी भिन्न टुकड़ों का एक पुंज होकर रह जाता है, जिनका विभिन्न विज्ञान अध्ययन करते हैं। एक जैविक मनुष्य है, एक सामाजिक मनुष्य है, राजनीतिक मनुष्य है और एक व्यक्ति-मनुष्य भी है जो पीड़ा और आनन्द का अनुभव करता है, उत्तरदायित्व निभाता है, अच्छाई या बुराई करता है, और स्वयं के अजनबीपन के प्रति सचेत होता है, जब वह विषय न रहकर वस्तु बन जाता है।[2] 'मैं कष्ट उठाता हूँ क्योंकि मैं हूँ।' की तुलना में 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' अधिक सही है। यथार्थ, फ़िनोमिना के संसार के पीछे की कोई चीज़ नहीं है। यह वही है जिसकी हम आशा और मानवता में कल्पना करते हैं। अगर प्रकृति और आदमी के भेद को भुला दिया जाएगा तो यह सिद्धान्त कि आदमी के कार्य स्वतन्त्र नहीं होते, ही विश्व-नियम बन जाएगा।

आज आदमी, समुदाय के हतप्रभ कर देने वाली हानि से, अजनबीपन के बोध से, आदमी के भीड़ का आदमी बन जाने से, और टेक्नालॉजी के समाज में संगठन का आदमी बन जाने से, कष्ट पा रहा है। जीवन की स्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के कारण आदमी कम और कम मानवीय और इसीलिए कम और कम स्वतन्त्र हो रहा है।

---

१. जेनेसिस।

२. यह सब तो सजावट है, लिबास है मेरे दुःख का मेरे भीतर कुछ ऐसा भी है जो दिखाया नहीं जा सकता।

यह सही है कि आदमी प्रकृति के संसार में विकसित हुआ है। प्रकृति, आत्मा का पालन करने वाली है। इस ग्रह में करोड़ों वर्षों के जीवन के बाद, कुछ ने ही मानवीय लक्ष्यों और मूल्यों का विकास देखा है। वीर्य से जनमने वाले, प्रकृति और सहजनों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले, आदमी में अपना अनूठापन होता है। हालाँकि वह प्रकृति के भीतर से उभरता है, फिर भी विकास-प्रक्रिया में घटित अपने पहले की चीजों से भिन्न होता है। वह पहला जीव है जिसने भविष्य की खोज की है। उसने स्वतन्त्रता का, आत्म-सचेतनता का, इन सबके रहस्य को जानने का, एक मानदण्ड विकसित किया है। आदमी, चिन्तक और अन्वेषी, दैवी का प्रतिरूप है। उसी की तीव्र भावना ने बीज बोया है, झोंपड़ी बनाई है, घोड़े की सवारी की है, पानी पर जहाज़ चलाया है। मनुष्य ने महान् मन्दिरों और गिरजा घरों का निर्माण किया है, उसने महान् मूर्ति-शिल्प तराशे हैं, महान् चित्रकारी की है। यह फिर उसी का दम है कि उसने उपग्रह छोड़े हैं, जो उन्हीं आकर्षण-शक्ति के नियमों से शासित हैं, जिनसे कि आकाश-लोक के चाँद, सूरज और तारे।

इतिहास, अद्भुत व्यक्तियों के अद्भुत घटनाओं में संलग्न होने का परिणाम है। इसमें हम चकमक पत्थर के छुरे से उद्जन बम तक, गुफा से गगनचुम्बी भवनों तक की प्रगति पाते हैं। ईश्वर 'रचयिताओं का रचयिता है।' भविष्य अंतहीन है और इसकी सम्भावनाएँ सीमाहीन।

मनुष्य जीवित प्राणियों के बीच इस मामले में अनूठा है कि वह अपने अस्तित्व के स्वभावतः महत्त्वपूर्ण रूप के प्रति सजग है। वह जीवन को अर्थहीन नहीं मानता। वह यह मानकर चलता है कि विश्व का अर्थ या मूल्य है। उसे ऐसी आस्था की ज़रूरत होती है जिसके सहारे वह जी सके। धार्मिक प्रवृत्ति को उखाड़ फेंका नहीं जा सकता। यह मिले हुए धर्म से संतुष्ट नहीं होती, यह कहीं अन्यत्र साध्य को ढूँढ़ती है। सभी धर्मों में एक आस्था होती है, किसी का होकर रहने की और अपने से पलायन की इच्छा होती है।

मानव-अस्तित्व के नाटक में हम प्रेक्षक और अभिनेता, दोनों ही हैं। प्रत्येक व्यक्ति मैं और मुझ दोनों होता है। मैं को चाहिए कि मुझ पर नियंत्रण रखे। भारतीय विचार-दर्शन ने, अपने इतिहास के प्रारम्भ से, ध्यान के ढँग का, 'मुझ' से अलग रहने का और आदमी की स्वतंत्र चेतना का अनुभव करने का आग्रह किया है। यह भारतीय चिन्तन की ही विशेषता नहीं है। सदियों पहले पिथागोरस ने कहा था कि मेले में विभिन्न प्रकार के लोग जाते हैं, कुछ यश प्राप्त करने के लिए, कुछ व्यवसाय करने के लिए, कुछ देखने-परखने के लिए। इनमें से अन्तिम प्रकार वाले दार्शनिक होते हैं। इसी भावना के साथ प्लेटो, दार्शनिक का वर्णन सब समय

और अस्तित्व के प्रेक्षक के रूप में करता है। पास्कल कहता है कि जब विश्व की शक्तियाँ एक आदमी को दबाती हैं, तब उन्हें पता नहीं होता कि वे क्या कर रही हैं, लेकिन आदमी को पता चल जाता है कि उसे दबाया जा रहा है। यह आत्म-सचेतनता उसे गरिमा और स्वतन्त्रता देती है। अगर वह इसे नजरअन्दाज करता है तो वह एक क्रमबद्धता, जड़ता और मस्तिष्कहीनता का शिकार हो जाता है। स्वतंत्र विलग चेतना, जो घटनाओं के संसार में खो नहीं जाती, कला और साहित्य, विज्ञान और टेक्नालॉजी, दर्शन और धर्म की प्रगति के लिए उत्तरदायी होती है। जब हमारी ज़िंदगियाँ सम्पत्ति के कोलाहल से भर जाती हैं, और एक भागदौड़ और शोर के बीच व्यतीत होती हैं, जब हम दबाव और तनाव में पाते हैं कि हमारे भीतरी साधन रिक्त हो गए हैं और हम बाहरी भुलावों की ओर मुड़ते हैं, तब ध्यानशील चेतना की आवश्यकता पर ज़ोर देना ज़रूरी हो जाता है। वे लोग ही इतिहास बनाते हैं जो इतिहास के बाहर खड़े होते हैं।

यह सोचना ग़लत है कि हम दयाहीन निर्धारणवाद की मुट्ठी में हैं, और भविष्य की चीज़ों का रूप नहीं बदल सकते। कैंटरबरी के भूतपूर्व आर्कबिशप, डॉ० फिशर ने अपना मत प्रकट किया कि यह ईश्वर की इच्छा हो सकती है कि आदमी अपने को अणुबमों से नष्ट करे, "क्योंकि उसने धर्मग्रन्थ में ऐसा कुछ नहीं पाया जो यह संकेत करे कि विश्व बराबर बना रहेगा और यह संकेत भी अधिक नहीं पाया कि यह भी समाप्त हो नहीं सकता।" सेंट पीटर कहते हैं कि "स्वर्ग बड़ी हिंसा के साथ समाप्त होंगे, तत्त्व गरमी से पिघल जाएँगे और धरती तथा जो भी चीज़ें इस पर हैं सब जल जाएँगी।" निराशा का यह विचार संकेतित करता है कि आदमी अपने उत्तरदायित्वों को छोड़ देता है और चीज़ों को भटकने देता है। अनन्त गहराई हमारी नियति नहीं होनी चाहिए।

लोकतन्त्र का नीतिशास्त्रीय आधार आदमी के महत्त्व पर आस्था है। व्यक्ति, इतिहास के समुद्र की एक लहर मात्र नहीं है, जो यह सोचती है कि वह बाढ़ को आगे ढकेलती है जबकि वह स्वयं इसके आगे बहाई जाती है। मानवीय इतिहास में हम मानवीय अभियान के प्रभाव का अनादर नहीं कर सकते। इतिहास के महान् व्यक्तित्व समय की आवश्यकताओं में प्रवेश करते हैं और देखते हैं कि विकास के लिए समय ने क्या पका दिया है। वे देखते हैं कि विश्व किस चीज़ के लिए प्रस्तुत है, उसे पकड़ते हैं, और अतीत के गर्भ में जो कुछ है उसे अस्तित्व देते हैं। मनुष्य इतिहास में नई लहरें उठा सकता है। जब तक व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और करुणा मानव-आत्मा में सक्रिय हैं, वे कार्य करेंगी और मानवीय संस्थाओं को नया रूप देंगी, फिर वे चाहे युग की कितनी ही पूज्य क्यों न हों।

: ३ :

कोई अन्धी वैयक्तिकतारहित नियति विश्व को शासित नहीं करती। बहुत-से लोग कहते हैं कि यह व्यक्तियों पर निर्भर नहीं करता कि दुनिया का भविष्य क्या होगा ? एक संश्लिष्ट और अविभाज्य समाज में व्यक्ति अपनी अलग पहचान खो देता है। अगर विवाद उठ खड़े होते हैं तो सरकारें उत्तरदायी होती हैं, व्यक्ति नहीं। दुनिया के लोगों का एक-दूसरे के साथ कोई झगड़ा नहीं है। व्यक्ति कोई अमूर्तता नहीं है। वह एक दल के सदस्य के रूप में पैदा होता है। भले ही हम दल के कामों को पसन्द न करें, हम उसके उत्तरदायित्व से भाग नहीं सकते।

कर्म का नियम कहता है कि जो कुछ भी घटता है, वह पूर्वगामी कारणों के अस्तित्व से ही घटता है और स्वयं भी बाद के प्रभावों का कारण बन जाता है। जैसा हम बोते हैं, वैसा ही काटते हैं। अगर कोई बुवाई नहीं होगी तो कोई कटाई भी नहीं होगी। यह नियम जीवन के हर पक्ष पर लागू होता है, शारीरिक पक्ष पर भी और नैतिक पक्ष पर भी।[1] इस नियम को पूर्वनिर्धारण से मिलाना ग़लत होगा।

प्रकृति के नियम आवश्यक हैं लेकिन घटनाओं का क्रम अनिश्चित है। आधुनिक यांत्रिक समाज, आदमी के आत्मन् की अन्तर्दृष्टि से वंचित हैं। वे केवल एक बाहरी यांत्रिक विश्व को पहचानते हैं जो आदमी की बनाई हुई मशीनों में प्रतिबिम्बित होता है। इसी से विकेन्द्रीकरण आधुनिक विश्व की मुख्य 'इमेज' बन गई है। हमने अतीत में जो कुछ किया है, उसने हमें आज हम जैसे हैं वैसा बनाया है, और वह हमें कुछ निश्चित प्रवृत्तियाँ और निहित सामग्री देता है, जिसे हम अपने प्रयत्नों से दूसरा रूप दे सकते हैं। अतीत वर्तमान में प्रवाहित है। भविष्य वैसा ही बनता है जैसा कि हम उसे बनाना चाहते हैं। हम स्वयं अपने रचयिता हैं। यह रचनात्मक प्रगति तभी सम्भव है जब हम विषय के रूप में काम करें, वस्तु के रूप में नहीं। सांसारिक आदमी बराबर नियमाधीन रहता है, केवल आध्यात्मिक मनुष्य ही स्वतन्त्रता पा सकता है। हम मनुष्य के क्षमताहीन होने और स्वतन्त्र इच्छा के अस्वीकार के दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। **कर्म** का प्रयोग जीवन की स्थितियों के हिसाब-किताब के लिए किया जाता है, लेकिन आदमी अपनी नियति को दिशा-निर्देश देता है। हम भौतिक बन्धनों से जकड़े हुए हैं और कभी-कभी आर्थिक स्थितियाँ हमें कुचल देती हैं। सदियों की भावाकुलता और क्रमबद्ध भूल ने हमारी आत्माओं के ऊपर मोटी परत चढ़ा दी है, जिसे प्रकाश नहीं भेद सकता,

१. हाब्स : "मनुष्य अपने जीवन की भूलों को इकट्ठा करते हैं और एक दानव की रचना करते हैं जिसे वे नियति कहते हैं।"

लेकिन जब चेतना जाग्रत हो जाती है तो वह चमत्कार घटा सकती है। आदमी का चरित्र केवल उत्तराधिकार और परिवेश से नहीं बनता। वह ऐसे परिस्थितिजन्य बन्धनों से मुक्त है। अगर मुझे अपना ही उद्धरण देने के लिए क्षमा किया जाए, "जीवन के खेल में पत्ते हमें दे दिए जाते हैं। हम उन्हें चुनते नहीं हैं। उन्हें हमारे पिछले **कर्म** से जोड़ा जाता है, लेकिन हम जैसा चाहें वैसे नाम दे सकते हैं, जिस ओर चाहें जा सकते हैं और हम जैसे-जैसे खेलते हैं, जीतते या हारते हैं। और यही स्वतन्त्रता है।"[1]

इतिहास तक में निर्धारणवाद (डिटरमिनिज़्म) का रोपण है। हमारे जीवन आवश्यकताओं में धँसे हुए हैं जैसे कि मिट्टी में वृक्ष। मिट्टी, फूलों-पत्तियों को आकार नहीं देती। यह मानवता है जो भविष्य को रूप देती है, पहले से निर्धारित निमित्त नहीं। हमारे लिए यह मानना आवश्यक नहीं है कि हम पूर्णतया चीज़ों को नियंत्रित कर सकते हैं, कि हम परमात्मा के विश्वासपात्र हैं, और कि हम सुदूर भविष्य का भी विधान रच सकते हैं। हम इस बात को नज़रअन्दाज़ कर जाते हैं कि मानवीय स्वतन्त्रता को बर्बर विद्वेष या हिसाब की भोली भूल को ध्यान में रखना है, उसका लेखा-जोखा करना है।

प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर दो प्रवृत्तियाँ होती हैं, शांति की चाह और मृत्येक्षा की। अन्तिम पर हमें विजय पानी होगी और हृदय की गाँठें, **हृदयग्रंथि** को खोल देना होगा। मुक्त मनुष्य वह नहीं है जो विरक्ति या व्यक्तित्वहीनता की अवस्था में डूब जाता है, वह भी नहीं जो अच्छाई-बुराई के परे चला जाता है, बल्कि वह जो अहंवाद या श्रेष्ठता के व्यामोह से स्वतन्त्र है। आदमी को अवश्य ही अपने को अपना पालतू बनाना होगा। नैतिकता, व्यक्तिगत दावों और नैतिकता के नियमों के बीच की खाई को भरने का एक सतत प्रयत्न है।

यह एक सामान्य दृष्टिकोण है कि ईश्वर निर्णयात्मक रूप से मानव-इतिहास में हस्तक्षेप करता है, अपनी प्रकृति को उद्घाटित करता है और हमें अपने अन्वेपन को भेदने की क्षमता देता है जिससे कि हम अपनी कमज़ोरियों पर विजय पा सकें, जिससे कि हम वैसे बन सकें जैसा कि हमें बनना चाहिए—उसके प्रेम का प्रतिदान देनेवाला और उसकी इच्छानुसार कार्य करने वाला। ईश्वर कोई स्वेच्छाचारी क्रूर शासक नहीं है जो मनुष्य को स्वतन्त्रता देने से इन्कार करता है। उसकी शक्ति हमें अपने-आपको पाने में बाधा नहीं बनती। वह मजबूर करने की अपेक्षा समझाने का प्रयत्न कर[illegible]सके समझाने के यन्त्रों में से एक यन्त्र वह न्याय है जो मनुष्य अपने का[illegible], अगर वे नैतिक नियम को रोकने की हठ करते हैं,

१. राधाकृष्णन : '[illegible] व्यू ऑफ़ लाइफ़' (बारहवाँ मुद्रण, १९६१) पृष्ठ ५४।

लेकिन वे प्रतिकार करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। अगर हम अपने विनाश की वस्तुओं के साथ असावधानीपूर्वक खेलते हैं तो यह दैवी उत्तरदायित्व नहीं है। ईश्वर मनुष्य की मानवता को नहीं धमकाता। विश्व को रसातल में समा जाने से बचाने के लिए, कवि अपने नाटक **मुद्राराक्षस** में ताण्डव-नृत्य करने वाले शिव को अपना तीसरा नेत्र खोलने से और ताण्डव-नृत्य करने से मना करता है। वह इस लक्ष्य की प्राप्ति मनुष्यों के मस्तिष्कों और हृदयों द्वारा करता है। इतिहास के घटनाक्रम के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, क्योंकि आदमियों को मापी जा सकने माली वस्तुओं के रूप में नहीं देखा जा सकता। उनके वारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

दुर्भाग्यवश वैज्ञानिक और टेक्नालॉजी के उपकरणों के ढेर ने आदमी को उसकी आन्तरिक स्वतन्त्रता से वंचित कर दिया है। हमें सम्पत्ति के प्रेत को भगाने के उपाय और साधन ढूंढ़ने होंगे, मनुष्य को उसके अनुत्तरदायित्व से छुड़ाना होगा और उसे सभ्यता का शक्तिशाली प्रतिनिधि बनाना होगा। वाहरी विकास हमारी आन्तरिक प्रकृति का स्पर्श नहीं करते। सब-कुछ अन्ततोगत्वा इस वात पर निर्भर करता है कि आदमी जो अब विज्ञान और टेक्नालॉजी पर इतना बड़ा अधिकार रखता है, वह अपना स्वामी भी है कि नहीं। हमारे धर्मों ने सतह को नहीं भेदा। जन-संचार के साधन, प्रेस, रेडियो, टेलिविज़न हमें बताते हैं कि हम क्या सोचें, हमें किस चीज़ की चाहना करनी चाहिए और हम उसे कहाँ से प्राप्त कर सकते हैं। हमारा समुदाय प्रभाव-ग्रस्त है। हम सोचते हैं कि हम नई स्वतन्त्रताएँ भोग रहे हैं, लेकिन दबाव हमारी चेतना का गला घोंट रहे हैं। व्यक्तिगत जीवन निष्प्राण हो जाता है। भीड़ का समाज वह फ़िनोमिना है, जिसे इतिहास ने दिया है। एक भीड़ में अकेले जाकर भी व्यक्ति अकेले और अलग हैं। संगठित ढंग से रहते हुए भी, उन्होंने समुदाय का बोध खो दिया है। निराश और हतप्रभ एक प्रतिभावान पीढ़ी, असंतुष्ट, सनकी, समाप्त होने का अभिशाप ढोती हुई—ऐसा समाज़ मनुष्य का पूर्णतः बोध नहीं है। इसमें आदमी, विकेन्द्रित, व्यामोह से घिरे हुए और अर्थहीन हैं।

एक ऐसा समाज, जिसकी कल्पना अल्डुअस हक्सले ने अपने **ब्रेव न्यू वर्ल्ड** में या आरवेल ने '१९८४' में की और जो आदमी के व्यक्तिगत अभियान को हतोत्साहित करता है, यथार्थ हो उठता है। मानव की मृत्यु ही मानव को संताप देती है। जब वह अपने समग्र व्यक्तित्व के समाप्त हो जाने की बात को घृणापूर्वक अस्वीकार करता है तब वह हृदय की अंतर्दृष्टि का अनुसरण कर रहा होता है। टेक्नालॉजी के सभी कारनामे, जो भले ही दूर तक उपयोगी हों, उसकी उच्चतम जीवन जीने की

इच्छा को, संतुष्ट नहीं कर सकते, जो उसके हृदय में बराबर बसी रहती है।

अस्तित्ववाद एक व्यक्ति की ओर से भीड़ के विरुद्ध और हमारे जीवन की हर उस प्रवृत्ति के विरुद्ध, जो व्यक्ति-स्तर को घटाकर एक वस्तु के स्तर पर ले आना चाहती है, एक विरोध है। आध्यात्मिक अंधकार पर विजय केवल मनुष्य में निहित गरिमा को पहचानकर ही पाई जा सकती है। भौतिक कल्याण मात्र, सभ्य व्यवहार की छाप नहीं है। व्यक्तिगत जीवन का अधिकार सभ्य लोगों का Sine qua non है। मनुष्य अपने कार्यों के उत्तरदायित्व को स्वीकार करता है क्योंकि जो कुछ परे है वह उसके भीतर भी है।

इतिहास, द्वंद्वों का, उन क्षणों का जब निर्णय लेना पड़ता है, एक सिलसिला है, हालाँकि हम क्या निर्णय लेते हैं यह बहुत-कुछ स्वतन्त्रता के उपयोग पर निर्भर करता है। व्यक्तियों की इच्छाएँ ही इतिहास की घटनाओं को गति देती हैं। एक महान् आदमी इसलिए महान् है क्योंकि वह लोगों की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। वह कोई असंगत लक्षण नहीं होता।

: ४ :

मानव-अस्तित्व का लक्ष्य क्या है, यूनानी इसे telos कहेंगे। आदमी की देह इस भौतिक विश्व में एक बिन्दु की तरह समाप्त हो जानेवाली है, उसका मस्तिष्क स्वयं में एक औज़ार है। देह, ऊपर की ओर उठने वाली प्रकृति की लहर की अंतिम रचना नहीं हो सकती। कुछ है जो परे है, कुछ ऐसा, जैसा मनुष्य जाति को होना चाहिए। सनातन उसके भीतर है, लेकिन उसके संकुचित व्यक्तित्व में ढँका हुआ है। मनुष्य की महानता जो कुछ वह है, उसमें नहीं है बल्कि इसमें है कि वह क्या हो सकता है। उसे इसमें सचेत रूप से विकसित होना है। दैवी रचनात्मकता में भाग लेने की उसकी चाह, इसके लिए अपने को उत्सर्ग कर देने की उसकी इच्छा, ये सब विकासकारी उत्तेजना के औज़ार हैं। रचनात्मक प्रक्रिया में प्रत्येक व्यक्ति की एक विशेष भूमिका होती है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में, दैवी अस्तित्व और मानवीय आत्मा एक ही है। फिर भी एक अन्तर है। अलौकिक स्वामी में **लक्ष्मीपतित्व** स्वामित्व है, **प्रकृति** के ऊपर अधिकार है, जबकि मानवीय आत्मा प्रकृति के ऊपर इस अधिकार से वंचित है।

ओल्ड टेस्टामेंट के मसीहाओं का यह विश्वास था कि इस्राइल का ईश्वर याहवेह समस्त संसार में अपना साम्राज्य स्थापित करेगा। यह विचार इतिहास की व्याख्या एक ऐसी जगह के रूप में करता है, जहाँ ईश्वर क्रमशः एक अन्त की ओर काम करता चलता है। यह प्रगति को कास्मिक प्रक्रिया के नियम के रूप में स्वीकार

करता है। बहुत-से लोग हैं जिनका यह विश्वास है कि हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी अच्छे होते जा रहे हैं। लॉर्ड एक्टन ने कहा, बिना प्रगति के "संसार के लिए कोई तार्किक कारण नहीं है।" उनके अनुसार प्रगति को अस्वीकार करना दैवी सरकार को अस्वीकार करने के बराबर है। हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि जैसे-जैसे समय बीतता है, संसार खराब और खराब होता जाता है। एपीक्यूरस ने सदियों पहले कहा था, "भविष्य न तो पूरी तरह से हमारा है, और न पूरी तरह से हमारा नहीं है, जिससे कि हम इसके आने के सम्बन्ध में न तो पूरी तरह भरोसा कर लें, और न इसलिए निराश हों कि उसका न आना, हमें न मिलना, बिलकुल निश्चित है।"

प्रगति अवश्यंभावी नहीं है। भविष्य की सुरक्षा न तो ईश्वर देता है और न मार्क्सवादी दर्शन। मनुष्य अपने-आपको अपने प्रयत्नों से ऊपर उठा सकता है, जो परिस्थितियों से बँधे हुए तो हैं लेकिन निर्धारित नहीं हैं। इतिहास की एक दिशा है, कुछ मौलिक विशेषताओं के संदर्भ में, जिन्हें अतीत के ढेर की गत्यात्मकता आगे ढकेलती है, लेकिन कुछ खास विकासों के संदर्भ में देखें तो यह अनिर्धारित है। मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को लेकर अपने भीतर की आवश्यकता पर विजय प्राप्त कर सकता है।

इतिहास में हम कुछ पुनरावृत्ति-ढंग या कुछ सिलसिलेवार चीज़ें पाते हैं; व्यवस्था के ऐसे रूप जिनमें फ़िनोमिना गिरता है। यह घटनाओं के हर क्षेत्र के लिए सही है। कुछ बार-बार घटने वाले लक्षण-रूप हैं, और कुछ स्वेच्छाचारी रूप-लक्षण भी, जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। बिलकुल समानता व्यक्तिनिष्ठा के सभी अन्तरों को हटा देगी और तुलनाओं में कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। पूर्ण वैभिन्न्य, तुलना की हर सम्भावना को समाप्त कर देगा। इतिहास कुछ झाँकियाँ दिखलाता है, लेकिन ब्यौरे निर्धारित नहीं हैं।

मानव-इतिहास की सबसे गहरी प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति, प्रकृति की, सितारों या नियति की अधीनता से ज़्यादा-से-ज़्यादा छुटकारा पाना है। सार्त्र इस ओर संकेत करते हैं कि नये निर्णयों के बनने में अतीत का कोई हाथ नहीं होता। यह बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिया गया वक्तव्य है। हम यह नहीं कह सकते कि हर निर्णय आवश्यक होता है। स्वतन्त्र व्यक्ति, प्रकृति की प्रक्रिया या समाज के उन्नयन को शीघ्रता, उत्तेजना प्रदान कर सकता है, आगे बढ़ा सकता है, सुधार सकता है।

मार्क्स का मत है कि मानव-इतिहास में निर्णायक तत्त्व वह भौतिक परिस्थिति होती है जिसमें हम अपनी जीविका के लिए काम करते हैं। बाकी सब-कुछ—दर्शन, धर्म, राजनीति, भौतिक सम्बन्धों के नीचे छिपी बातों, उत्पादन की शैलियों के प्रतिबिम्ब या प्रक्षेपण हैं। एक आदिवासी-कृषिप्रधान समाज की कला

और सरकार की पद्धति, दास रखने वाले समाज या एक सामन्ती या पूँजीवादी समाज से भिन्न होगी। उत्पादन की प्रत्येक व्यवस्था अपना स्थान लेने वाले के लिए राह बनाती है। मार्क्स यह नहीं मानते कि तथ्य के बन्धनों से स्वतन्त्र विचार सामाजिक ढाँचे को बदलते हैं। एक हिब्रू मसीहा के-से आवेश में मार्क्स शक्तिशालियों को उनके स्थान से नीचे उतार देना चाहते हैं और उन्हें ऊपर उठाना चाहते हैं, जो निचले दरजे के हैं। मार्क्स और उनके अनुयाइयों ने जिन आदर्शों के लिए संघर्ष किया और कष्ट उठाया, वे यथार्थ की सतह के भ्रम-मात्र नहीं है। आदमी का उद्देश्य भौतिक संचय नहीं बल्कि कला और संस्कृति की साधना है। जब हम यह कहते हैं कि आदमी प्रकृति का सबसे बड़ा पुजारी है, तब हम यही कहना चाहते हैं कि प्रकृति जो कुछ नहीं कर सकती, वह उसे कर सकता है। वह प्रकृति के सौन्दर्य को जान सकता है, वह इसकी महत्ता को स्वर दे सकता है। वह संसार का अर्थ जान सकता है, अपने विगत इतिहास को, पशु-राज्य से अपने सम्बन्ध को, और इतिहास की अगली गति को भी समझ सकता है। संघर्ष और प्रयत्न द्वारा नई स्वतन्त्रताएँ प्राप्त की गई हैं। अब लोकतांत्रिक समानता का फैलाव है, श्रमिकों की स्थितियों में सतत प्रगति है। रहन-सहन के स्तर में, और शैक्षणिक सुविधाओं में वृद्धि के साथ, काम के घण्टों में कमी के साथ, ज्यादा सुविधाजनक और वैविध्य वाले जीवन के साथ, पढ़ने और चिन्तन करने तथा ज्यादा प्रकाशमय जीवन जीने के लिए बड़े अवसर उपलब्ध हो गए हैं। बहुत-से देशों में स्त्रियों ने पुराने बन्धनों को तोड़ दिया है और जीवन के हर क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है।

हम केवल शान्ति के क्षणों में अपनी स्वतन्त्रता की सचाई को पहचान पाते हैं। आविष्कारों और खोजों, महान् क्रान्तियों, बोध-प्राप्ति और भविष्यवाणियों—सबका जन्म शान्ति के क्षणों में ही होता है। धरती की सूरत बदल देनें वाले विचारों का जन्म वेदना और अकेलेपन में ही होता है। ऐसे क्षणों में हम बन्धनहीन की उपस्थिति का अनुभव करते हैं। यह इतिहास की परिमित बुनावट में अपने-आपको स्वयं उद्घाटित करता है। यह विश्व को अन्ततोगत्वा-अर्थहीनता से बचाता है। अस्तित्व के संसार में मौलिक अस्तित्व उतर आता है। यह धर्म के विरोधाभासों में से एक है कि हमें आत्म-हित को अस्वीकार करके जीवन की गुणात्मकता को बढ़ाना पड़ता है।

मनुष्य में दृढ आस्था के साथ हमें अपना उद्यम करते रहना है। पवित्र और अपवित्र का गहरा सम्बन्ध है। सन्त जीवन का रूप बदल देते हैं। वे मानवीय प्रकृति या इसके मूल्यों को त्याज्य नहीं समझते, बल्कि इसकी गहराइयों को

मापते हैं। वे स्वर्ग और धरती के बीच मध्यस्थ का काम करते हैं।

इतिहास में ऐसे क्षण आते हैं जब आस्था, दृष्टि की कमी के कारण मनुष्य 'केआस' की डरावनी शक्तियों के साथ जुड़ जाता है। हमें तहस-नहस करने वाली विपत्ति ऊपर से नहीं आती बल्कि हमारे अपने विचारों और आदर्शों से पनपती है। अगर हम चुपचाप अपने द्वारा तैयार की गई शक्तियों के हाथ अपने को सौंप देते हैं तो हम अपने ही हाथों विनाश को आमंत्रित करते हैं। अगर हमारे पास कोई शक्ति है तो वह जीवन को बदलने वाली शक्ति है। हमें समय की गति के साथ हार नहीं मान लेनी चाहिए और अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं खोना चाहिए, बल्कि स्वतन्त्र रचनात्मक प्राणियों की तरह काम करना चाहिए, जो चाहे जो कुछ हो जाए, अपने कामों के परिणामों की जिम्मेवारी उठाने को तैयार रहते हैं। अधिकार खोने की ओर हमारा झुकाव अनन्त मालूम पड़ता है। हमें अपनी रचनात्मक शक्तियाँ पुनः प्राप्त करनी होंगी।

मनुष्य की यात्रा विजयिनी और हृदय चीरने वाली है। हमने अपने लिए नया संसार रचा है, उसमें हम मस्तिष्क की पुरानी आदतों को पकड़े नहीं रह सकते। हमें पुराने संसार के खण्डहरों में रहने का आग्रह नहीं करना चाहिए। पुराना मनुष्य समाप्त हो रहा है। मनुष्य आशा और आकांक्षा के पहिये पर घूमता है। आज की भयंकर स्थितियों को पैदा करने में विश्व के युवकों का कोई हाथ नहीं है।

अगर हममें प्रेम की कोई चिन्गारी है, बुद्धि का कोई दाना है, तो हमें युवकों की, उनके अग्रजों की भूलों और मूर्खताओं से रक्षा करनी चाहिए। प्रयत्न करना हमारा कर्त्तव्य है। हम असफल हो जाएँ तो कोई बात नहीं। नुकसान पहुँचाने में सफल हो जाने की अपेक्षा कई बार असफल हो जाना अच्छा होता है। इतिहास मनुष्य के बार-बार असफल होने की अन्तहीन कथा है। सफलता की अपेक्षा हम प्रयत्न का गुणगान करते हैं।

पैंडोरा की कथा का एक रूप बताता है कि किस तरह ज़ेनो ने मनुष्य को सभी अच्छी चीज़ों से भरी हुई एक कठौती दी; लेकिन मनुष्य ने उत्सुकतावश ढक्कन खोल लिया, जिससे कि सभी अच्छी चीज़ें देवताओं के पास चली गईं और जब ढकना बन्द किया गया तो एकमात्र आशा ही भीतर रह गई थी और अब वही मनुष्य जाति को सांत्वना देती है। मनुष्य का इतिहास, ट्रैजिडी और आशा के बीच एक सतत द्वन्द्व है।

इतिहास का अर्थ, पवित्रता और मानवता से भरे व्यक्तियों द्वारा जीवन का स्वरूप-परिवर्तन है। वे 'एक नया स्वर्ग और नई धरती' लाएँगे।

ऐतिहासिक संसार का अस्थायी प्राणी दैवी अस्तित्व की स्थायी 'भंगिमा' धारण कर लेगा। इतिहास अपनी समाप्ति की ओर बढ़ेगा और अपने को चेतना के राज्य में परिवर्तित कर लेगा। ऐतिहासिक प्रक्रिया में देव-पुरुषों के माध्यम से काम करते हुए दैवी अपनी मुक्ति की ओर बढ़ेगा, लेकिन किसी संकट या विपत्ति से होकर नहीं। नया मनुष्य बौद्धिक आदमी से उतना ही भिन्न होगा, जितना कि बौद्धिक आदमी पशु-पक्षी से है। ये देव-पुरुष संसार में ताज़ी शक्ति भरते हैं और मानव-जाति की पूरी दशा-दिशा को रूप देते हैं। यहाँ तक कि जब वे बीत रहे संसार के भीतर यात्रा करते हैं तब भी उनमें सनातन रहता है। सनातनता समय की पूर्णता है।

सत्य द्वारा चालित चेतना, परिस्थितियों की शक्ति से ज्यादा बलवती होती है। आदमी अपने विचारों और कार्यों द्वारा जो नियति स्वयं तैयार करता है, उसके अलावा दूसरी कोई नियति नहीं होती। ह्रास का मार्ग तय करने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि जो कुछ उसमें है वह संसार में जो कुछ है, उससे ज्यादा शक्तिशाली है। वह भविष्य के अन्धकार को प्रकाशमय कर सकता है।

हिन्दू जिसे ब्रह्म-लोक कहते हैं, वही ईसाइयों के लिए 'ईश्वर का राज्य' है। सेंट पॉल के अनुसार ईसामसीह अन्तिम मुक्ति का अग्रिम आधार हैं[१], इस बात की शपथ कि उद्धार के लिए शुरू किया गया काम, पूरा किया जाएगा। उनकी सतत-उपस्थिति अन्तिम मुक्ति का आश्वासन है।[२] इतिहास की समाप्ति, ईश्वर के राज्य की अन्तिम रूप से स्थापना है जब ईश्वर सर्वेसर्वा होगा।

पास्कल अपने पेन्सीज़ (Pensees) में कहता है कि "ईसा, विश्व की समाप्ति पर अपने अन्तकाल की पीड़ा का अनुभव करेंगे।" ईश्वर, सतत जन्म है। यह अन्तहीन क्रिया है। जब तक अन्त नहीं आ जाता, हमें आगे बढ़ते रहना होगा। इस रचनात्मक प्रकिया में आदमी एक उच्चतर जीव बन रहा है। उसे नये उत्तर-दायित्वों को समझना है। कॉस्मिक-प्रक्रिया असमाप्त है।

---

१. २ कोरिन्थिअन्स १/२२; ५/५।
२. रोमन्स ८/२।

८

विश्व-समुदाय

: १ :

मानव-जाति, इतिहास की एक नयी अवस्था में संलग्न है। विश्व-भर में गहन और उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहे हैं। हमारे विचारों और व्यवहार पर इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है। संसार अणु-अस्त्रों के लिए बहुत छोटा है। विश्व-समुदाय के हित में इन पर नियंत्रण रखना पड़ेगा। एक महान् सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन घटित हो रहा है। लोग बेचैन हैं, आस्था और सन्देह, आशा और चिन्ता के बीच झूल रहे हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध में मरने वाले एक करोड़ लोगों में ९५ प्रतिशत सैनिक थे और ५ प्रतिशत असैनिक। द्वितीय विश्व-युद्ध में मरने वाले पाँच करोड़ लोगों में ५२ प्रतिशत सैनिक थे और ४८ प्रतिशत असैनिक। कोरिआई युद्ध में मरने वाले ९० लाख लोगों में ८४ प्रतिशत असैनिक थे और १६ प्रतिशत सैनिक। ऐसी परिस्थितियों में यह विश्वास करना कठिन है कि असुरक्षित, और न लड़ने वाले स्त्रियों-बच्चों की सामूहिक हत्या के रूप वाला पतित युद्ध, राजनीति का वैध हथियार है।

अणु-अस्त्रों के विकास ने बड़े देशों के हाथ में इतनी शक्ति दे दी है कि वे मानव-जाति को कई बार समाप्त कर दें। राजनीतिज्ञों का ध्यान बढ़ते हुए खतरे की ओर नहीं है **और वे भयानकता के समतुल्य की बात करते हैं।** जनता की जड़ता और वर्गों की उदासीनता ने लोगों को ऐसा बना दिया है मानो उन्हें लकवा मार रहा हो। अगर हम अणु-अस्त्रों के बढ़ते हुए ढेर से होने वाले विनाश, जिसका मतलब है, नगरों का नाश, देशों की बरबादी, लाखों लोगों की यातना, जो हम जैसे ही हैं, संसार का पतन जो अणु-अस्त्रों के प्रभाव के मौन षड्यंत्र को स्वीकार करता है, रेडियो विकीरण, मनुष्यों की समाप्ति की ओर से आँखें नहीं मूंद लेना चाहते तो हमें एक शांति ढूंढ़नी होगी और गहराई से सोचना होगा। हमें अनैतिकता और अविवेक से संघर्ष करना होगा, जिनका कि संसार में अभी भी शासन है। जो लोग जनता को अणु-अस्त्रों के युद्ध के यथार्थ से परिचित कराना चाहते हैं, उन्हें दबाए

जाने के विरुद्ध हमें आवाज़ उठानी होगी। हमें यह समझना चाहिए कि सुरक्षा-उपायों और **आपात्कालीन** नियमों के द्वारा, अणु-अस्त्रों से हमारा बचाव नहीं होगा।

ऐसे विश्व में, जहाँ शान्ति अधिक-से-अधिक अनिश्चित होती जाती है, बड़ी शक्तियों की विशेष ज़िम्मेवारी है। शान्तिपूर्वक, ध्यानपूर्वक और धैर्य के साथ उन्हें समस्याओं का सामना करना और उन्हें सुलझाना है। हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि मानव-प्रकृति अपरिवर्तनीय है और चूँकि युद्ध बराबर होते रहे हैं इसलिए बराबर होते रहेंगे। सिमट रहे संसार में विश्व-शान्ति कोई सपना नहीं है। यह एक आवश्यकता है, मानव-जाति के बचाव की एक शर्त। क्या हम इस लक्ष्य को धमकी या शक्ति-प्रयोग से पा सकते हैं?

विलियम जेम्स ने **युद्ध के नैतिक पर्याय**[१] पर अपने एक प्रसिद्ध लेख में 'युद्ध के बदले अनुशासन की कार्रवाई' का सुझाव दिया। उन्होंने युद्ध के गुणों को 'सम्मान के आदर्श और योग्यता के स्तर' के रूप में सुरक्षित रखने के दूसरे उपाय बताए। लेकिन सैन्य गुणों के पर्याय बताना-भर पर्याप्त नहीं है, हमें सैन्य तरीकों के लिए विकल्प ढूँढ़ने पड़ेंगे। अब तक जिन मामलों का निर्णय युद्ध द्वारा किया जाता रहा है, उन्हें अब दूसरे उपायों से निर्णीत करना होगा। जब तक राष्ट्र हैं, विवाद होते रहेंगे और उन्हें शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया जाना चाहिए। सामाजिक जीवन की तरह ही राजनीतिक जीवन में भी हम विवादों को पूरी तरह से अलग नहीं कर सकते। ये एक विश्व-संगठन, एक अंतर्राष्ट्रीय निर्णय द्वारा निबटाए जाने चाहिए। **निरन्तर शान्ति** पर अपने लेख में कांट एक विश्व-राज्य का नहीं बल्कि राज्यों के एक समूह का सुझाव देते हैं, जो सभ्य व्यवहार के न्यूनतम अधिकारों का पालन करेंगे। उसने विश्व-नागरिकता की प्रवृत्ति का, सबके लिए समान क़ानूनी व्यवहार का एक प्रस्ताव रखा, लेकिन किसी के एकछत्र शासन के बिना। राज्यों के अन्त-र्प्रवेश की क्रिया बढ़ रही है। किसी एक सत्ता द्वारा विश्व-नियंत्रण की बात भ्रामक है। कोई भी लोकतंत्र विश्व-राज्य नहीं बन सकता। विश्व-राज्य आसानी से क्रूर शासन या तानाशाही में बदल सकता है। संघीय हल ही एकमात्र उपाय है, एक विश्व-समुदाय जो सैन्य संघर्षों की जगह क़ानूनी प्रक्रियाओं को स्थान देता है। अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का विकल्प विश्वव्यापी न्यायिक ढाँचा, क़ानून और व्यवस्था है। हिन्दू चिन्तन में धर्म का अर्थ है, एकत्रित होना, जुड़ना, एकता; अधर्म इसका उलट है, बिखरना, टूटना, फूट। विश्व को एक होना है। विश्व के देशों में क़ानूनी व्यवस्था लागू करने और क़ायम रखने के लिए जो शक्तियाँ चाहिए उन

१. The Moral Equivalent of War—1910.

तक सीमित एक विश्व-संघीय सरकार, उचित और बनी रहने वाली शान्ति उपलब्ध करने का व्यावहारिक उपाय है। क्षेत्रीय और राजनीतिक भावनाएँ, एक विश्व-सत्ता के विरुद्ध खड़ी हो सकती हैं। हम वर्तमान सामाजिक ढाँचों को, उनके द्वारा किए जा रहे कामों के लिए वैकल्पिक उपाय बताए बिना तोड़ नहीं सकते। अगर उन्हें इन बुराइयों के आगे सिर नहीं झुका देना तो हमारे पास उन्हें क्रूरता और आक्रमण से बचाने के लिए साधन होने चाहिए। एक अंतर्राष्ट्रीय सत्ता का अर्थ युद्धों की अनुपस्थिति नहीं है। जब आवश्यकता पड़ेगी तो विद्रोही इकाइयों के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए इसके पास आवश्यक शक्ति होगी। राष्ट्र-राज्यों के भीतर विद्रोही नागरिक और दल, गृह-युद्ध और क्रान्तियाँ होती हैं।

राष्ट्रपति विल्सन के शब्द उधार लें तो प्रथम विश्व-युद्ध 'विश्व को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित करने के लिए' लड़ा गया था। अमरीकी लोगों को 'लीग ऑफ़ नेशन्स' ने सन्तुष्ट नहीं किया और वे इससे अलग रहे।

एक विश्व-सत्ता का लागू होना, विश्व-समझदारी या विश्व-समुदाय का परिणाम होगा। विश्व-समुदाय बनने से पहले, विश्व की वर्तमान नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को बदलना पड़ेगा। हमें विश्व-समुदाय के लिए काम करना चाहिए क्योंकि इसके विकल्प विश्वव्यापी अत्याचार या 'केआस' हैं।

: २ :

मानव-इतिहास के आरम्भ से ही कवियों, सिद्ध पुरुषों और दार्शनिकों ने हमसे यह कहा है कि हम अपनी नियति के समानधर्मा बनें, धार्मिक समर्पण, आध्यात्मिक चिन्तन-मनन और नैतिक साहस द्वारा अपने को पुनर्चालित करें और बदलें। बैबीलोनियनों की हम्मूरबी संहिता और मृतकों की मिस्री किताब में इस्राइलियों की दस आज्ञाओं (टेन कमांडमेंट्स) के-से सुझाव हैं। इनमें से एक कहता है, "तुम्हें अजनबी को सताना नहीं चाहिए क्योंकि कभी मिस्र में तुम स्वयं अजनबी थे।" होसिआ, ईसाया और हिल्लेल करुणा, दया, क्षमा, धर्मनिष्ठा और प्रेम पर ज़ोर देते हैं। सिद्ध-पुरुष ईसाया ईश्वर का आश्वासन बताता है। "मैं सभी राष्ट्रों और भाषाओं को एकत्रित करूँगी, वे आएँगी और मेरी महिमा देखेंगी।"[1]

एलेक्ज़ेंडर भारतीय पंडितों के जीवन में आत्म-संयम और गहन दार्शनिक ज्ञान से बेहद आश्चर्यचकित हुआ था। यह बिना किसी पूर्वग्रह के उनसे मिला और उनकी महानता स्वीकार की। प्लूटार्क कहता कि एलेक्ज़ेंडर ने प्रत्येक जगह सभी मनुष्यों को साथ मिलाया, मानो यह एक प्रेम-भरा प्याला हो जिसमें मनुष्यों के

१. ईसाया LXVI १८।

जीवन, उनके चरित्र, उनके विवाह, उनके जीवन की आदतों को इकट्ठा करके मिला दिया गया हो। वह समस्त बसे हुए संसार को अपनी पितृभूमि के रूप में देखता था। सभी अच्छे मनुष्य इसके हैं; दुष्ट बाहरी हैं। अशोक ने पत्थरों पर बुद्ध के सूत्र खुदवाए। दूसरों के स्वार्थ पर लगातार रहते हुए, हम स्वयं अधिक स्वार्थी हो जाते हैं। दूसरों को दोष देकर हम स्वार्थपरता से छुटकारा नहीं पाते बल्कि अपने को शुद्ध करके पाते हैं। भावाकुलता से शान्ति तक का रास्ता, दूसरों पर दोषारोपण करके नहीं बल्कि अपने को जीतकर मिलता है।

ईसा का प्रशिक्षण ऐसी भाव-भूमि पर हुआ था जो 'आँख के लिए आँख' वाली आदिम नैतिकता को स्वीकार नहीं कर सकती थी। ईसा के लिए, ईश्वर प्रेम और करुणा थी, साथ ही सत्य-निष्ठा भी। "तुम्हें अपने पड़ोसी को निज की तरह प्रेम करना चाहिए।" "बुराई का बदला भलाई से दो।" "जो तुम्हें शाप देते हैं, उन्हें आशीर्वाद दो।"

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर, जिन्होंने पश्चिमी संसार में भारतीय धर्म की व्याख्या के लिए बहुत-कुछ किया, सोचते थे कि वे ईसाई वेदान्ती हैं, जिस तरह से कि कुछ ईसाई, ईसाई प्लेटोनिस्ट होते हैं। अन्य बहुतों की तरह ही, मानव-अस्तित्व का लक्ष्य उनके लिए विश्व-समुदाय था। "जहाँ यूनानियों ने बर्बरों को देखा, वहाँ हम भाई देखते हैं, जहाँ यूनानियों ने राष्ट्रों को देखा, हम मानव-जाति को देखते हैं, संघर्ष करती और कष्ट पाती हुई, समुद्रों द्वारा अलग की हुई, भाषा द्वारा विभाजित और राष्ट्रीय शत्रुता द्वारा और राष्ट्रीय वैमनस्य द्वारा अलगायी हुई—फिर भी दैवी नियन्त्रण में, उस दुर्बोध लक्ष्य की पूर्णता की ओर पहले से कहीं अधिक झुकाव-भरी, जिसके लिए विश्व रचा गया था, ईश्वर के स्वरूप के वाहक के रूप में इसमें मनुष्य की प्रतिष्ठा की गई थी।"[१]

विज्ञान ने दिक् और काल के बंधनों को तोड़ दिया है। राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के विकास का अनुभव विश्व-भर में किया जा रहा है। अंतरिक्ष की विराटता को जीतने, देशों की सीमाओं को पार कर आर्थिक साझेदारी, सभी बच्चों के लिए शिक्षा, सभी के लिए रोज़गार का सपना उन सबका है जो इन्हें पाने का प्रयत्न कर रहे हैं, और जिन्हें इनकी आवश्यकता है।

विश्व-एकता के लिए काम करने वाली यथार्थ शक्ति मनुष्य में निहित दूसरों के प्रति करुणा है। यह जीवन का आधार है, और इसे संगठित करने की आवश्यकता है। साहस का अभाव, कल्पना का अभाव, आलस्य और जड़ता ही

---

१. जीवन व धर्म पर विचार, प्रोफ़ेसर मैक्समूलर की रचनाओं का एक निष्कर्ष, उनकी पत्नी द्वारा, लन्दन १९०५, पृष्ठ १२६।

हमारे शत्रु हैं। हमें मनुष्य को सभ्यता की ओर ले जाना है।

: ३ :

एक गहरा नीतिशास्त्र है, जो प्रत्येक व्यक्ति को, विवाद के स्रोतों, युद्ध के कारणों को समाप्त करने और उन संस्थाओं और सम्बन्धों को, जो युद्ध का कारण बनते हैं, सुधारने के लिए दूसरों का साथ देने की बात कहता है। मानव-विवेक और रचनात्मक कल्पना को इस तरह की शिक्षा, आपसी सहायता और सामूहिक सुरक्षा बनना चाहिए जिससे कि राष्ट्र अपने विवादों को शांतिपूर्वक निबटा सकेंगे। हमें सांस्कृतिक और वैचारिक विभेदों का प्रयोग, ज्ञानवर्द्धन और एक अंतर्राष्ट्रीय नीतिशास्त्र तैयार करने के लिए करना चाहिए।

विश्व-समुदाय की प्रभुसत्ता का स्थान, सभी दूसरों के पहले, वर्गों और दलों, जातियों और राष्ट्रों की प्रभुसत्ता के पहले आता है। प्रत्येक व्यक्ति का मानव-परिवार में जन्म लेने के नाते यह अधिकार है कि जिये और बढ़े, और अदूषित मिट्टी में अविषैली हवा-पानी में साँस ले। धरती, जल और वायु, अब बाहरी दिक् और आकाशी-सामग्री, मानव-जाति की सम्पत्ति हैं।

: ४ :

विश्व-एकता की प्रक्रिया शुरू हो गई है, हालांकि इसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। जिस तरह से अपने-अपने देशों के क़ानून से व्यक्ति बँधे हैं, उसी तरह से राष्ट्र-राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून से बँधा होना चाहिए। जैसे कि कुछ व्यक्ति क़ानून को तोड़ देते हैं, उसी तरह से देश हैं जो क़ानून को तोड़ देते हैं और आक्रमण कर देते हैं। राष्ट्रों का क़ानून स्वतन्त्र राज्यों के संघ पर आधारित होना चाहिए।

ऐसा समाज एकता लाने वाला बन जाता है जिसके सदस्य बड़ी आशाओं विचारों और इच्छाओं के साझीदार बनते हैं। अगर विश्व को एक समुदाय बनना है तो सभी लोगों को समान विचारों और लक्ष्यों का साझीदार बनना चाहिए, भले ही वे भौतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से विभाजित हों। पूरा इतिहास ऐसे उल्लेखनीय व्यक्तियों की कहानी से भरा पड़ा है जो उग्र परिवेश पर अधिकार पाने के लिए नाटकीय रूप से क्रियाशील रहे हैं। प्रत्येक देश में, दुनिया के हर भाग में कुछ व्यक्ति राष्ट्रों और साम्राज्यों के कोलाहल में भविष्य के स्वर सुनते हैं, जीवन के कोमल उभार और आशा के स्वर। यह कोई एक राष्ट्र या एक व्यक्ति नहीं होता। यह नयी चेतना है जो असहाय मालूम पड़ने वाले लेकिन दृढ-निश्चयी और प्रतिबद्ध

अकेले व्यक्तियों द्वारा जागृत की जाती है, पुनर्प्रतिष्ठित की जाती है, पोसी जाती है। आल्बेयर कामू ने ऐसे ही व्यक्तियों के लिए कहा है कि उनकी क्रियाएँ और उनके काम बन्धनों को अस्वीकार करते हैं और मानवता की एकरूपता में साँस लेते हैं। उनकी यातनाओं और त्यागों के परिणामस्वरूप इस आशंकित सत्य की दृष्टि हम सबको उजागर होनी चाहिए कि हममें से प्रत्येक एक समग्र इकाई का है और हममें से प्रत्येक को सबके लिए निर्माण करना है। जो भी विवाद विश्व की सरकारों को अलगाते हैं, उनमें से कोई भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी कि राष्ट्रों के परिवार की सदस्यता।

मुख्य समस्या, विश्व-समुदाय के प्रति निष्ठा के विकास की है। धरती पर मानव-इतिहास का महानतम युग समूची मानव-जाति की पहुँच के भीतर है। इस आदर्श को उपलब्ध करने के लिए हमें अपने नैतिक साहस को ढूंढ़ना पड़ेगा, अपने उद्देश्यों को परिभाषित करना होगा और अपनी शक्तियों को दिशा देनी होगी।

इस काम को करने के लिए, हम इतिहास की सबसे भोंडी व्याख्या कि युद्ध राष्ट्रों का निर्माण करता है, के विरुद्ध खड़े होते हैं। हालाँकि हमने पिछले युगों में ऐसे युद्ध छेड़े, जो कष्ट, ध्वंस और विनाश लाने वाले थे, फिर भी हमने इस ओर संकेत किया था कि आत्म-रक्षा के लिए लड़े गए युद्ध, बर्बर आक्रामकों के सामने, जो संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके महानता और अधिकार प्राप्त करना चाहते थे, किये गए लज्जाजनक समर्पण से बेहतर थे। इतिहास में सबसे भयानक दो महायुद्ध हमारी पीढ़ी के लोगों द्वारा छेड़े गए थे। सभ्यता के नेता, जिन्होंने ये युद्ध छेड़े, अपने शांत क्षणों में, इनके लिए अपने को उत्तरदायी पाकर अपने से घृणा करते हैं। संसार यातनाओं, क्रूरताओं, मूर्खताओं और भ्रमों से भरा था और हमने यह सोचा कि हम हिंसा को अपनाकर इन्हें दूर कर देंगे। आज राष्ट्र सच्ची अपराध-भावना और शर्म का अनुभव कर रहे हैं। अब उस छलावे और दुष्टता के प्रति सजगता व्यापक हो गई है, जिसमें कई लोग और सरकारें संलग्न हैं। युद्धों से पीछा छुड़ाने की हमारी तीव्र इच्छा के बावजूद, उनका भय, इस भय से जन्मती हुई नीचता और बर्बरता, यह प्रश्न खड़ा करती हैं कि क्या इस विकृत और अपराधी पीढ़ी के लिए कोई आशा है। क्या इस बात की कोई आशा है कि मनुष्य अपने को सभ्य बना सकता है? इतिहास एक डरावनी चेतावनी है। कुछ व्यक्ति मानसिक रूप से विक्षिप्त हो जाते हैं, कुछ राष्ट्र अर्ध-विक्षिप्तावस्था में टूट जाते हैं जिससे उत्तेजना, हिंसा और घृणा पैदा होती है।

बड़ी शक्तियां, उपनिवेशी प्रभुत्व से छुटकारा पाकर उभरने वाले लोगों की आत्माओं पर कब्ज़ा करने के लिए एक संघर्ष में उलझी हुई हैं। ये राष्ट्र गृह-

उपद्रव की अवस्था में हैं। एक विवाद दूसरे को जन्म देता है। अतर्कनापरक भावना, जातीय घृणा, आदिम जातिवाद, दरिद्रता, भूख, कष्ट, षड्यंत्र, सैनिक विद्रोह और विद्रोह से विद्रोह, उन्हें उत्तेजनापूर्ण, रहस्यमय और अनिश्चित जन-समुदाय बना देते हैं।

: ५ :

हमारा उद्देश्य, सार्वभौमिक नैतिक व्यवस्था पर आधारित, विश्व-समुदाय की स्थापना है। यह व्यक्ति की गरिमा पर आधारित लोकतंत्र के आदर्श और व्यवहार के प्रति प्रतिबद्ध होकर ही संभव है, यहाँ तक कि विश्व के सबसे शक्तिशाली देश या शासक को भी शेक्सपियर के 'रिचर्ड द्वितीय' के स्वरों में स्वर मिलाकर कहना चाहिए :

"मैं भी तुम्हारी तरह खाता हूँ रोटी, अनुभव करता हूँ इच्छा, पाता हूँ पीड़ा, चाहता हूँ मित्र; इस तरह पराधीन, कह सकते हो कैसे कि राजा हूँ मैं !"

लोकतन्त्र अपने आदर्शों को शंका-निवारण, प्रेम, उदाहरण और नैतिक शक्ति से उपलब्ध करने का लक्ष्य सामने रखता है। हिंसा और असहनशीलता के ढंग लोकतंत्र के साथ मेल नहीं खाते। दुष्ट-व्यवहार के संगठनकर्त्ता भी दोषी होते हैं और उनके साथ सहमत होने वाले भी। मनुष्यों ने अपने चारों ओर जो जाल बुन लिए हैं, उनसे उन्हें छुड़ाना पड़ेगा, उन्हें राष्ट्रीय स्वार्थों वाले संगठनों से मुक्ति दिलानी होगी। यहाँ तक कि तानाशाही ढाँचा भी लोकतांत्रिक होने का दावा करता है। इतालवी दार्शनिक, जेन्तील, इन शब्दों में तानाशाही दावे को प्रस्तुत करता है : "लोकतन्त्र इस बात में निहित होता है कि लोग जो कुछ चाहते हैं, वह उन्हें देता है; वे यह नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, नेता उन्हें बताता है और फिर उनके लिए प्रस्तुत करता है।"

हमारे पास संयुक्त राष्ट्र-संघ ही विश्व-सरकार के सबसे निकट है। यह अपनी क्षमतानुसार विवाद के कारणों को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। इसकी दृढ मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को बल-प्रयोग से नहीं बल्कि उचित बात-चीत से निबटाया जाना चाहिए। किसी सहकारी या रचनात्मक क्रिया के लिए यह देशों को एक-दूसरे के सम्पर्क में रहने में सहायता करता है। यह दूसरों पर आक्रमण किए जाने या उन्हें सताए जाने पर रोक लगाने के लिए नैतिक शक्ति का प्रयोग करता है। संयुक्त राष्ट्र-संघ देशों को राजनीतिक प्रभुत्व, जातीय यातना और आर्थिक शोषण से मुक्त करने का प्रयत्न करता है। एक देश के जीवित रहने का अधिकार उसके क्षेत्रफल या उसकी जनसंख्या या उसके सैन्य-बल पर निर्भर नहीं

करता, बल्कि इसकी एकता और नियम-पालन पर करता है। हम राष्ट्रों का एक ऐसा परिवार बनना चाहते हैं, जिसमें प्रत्येक सदस्य अपने अनोखे उपहार लाएगा। सभी राष्ट्र अपने में पवित्र होते हैं, इसी तरह दूसरों और सबके लिए। विश्व को एक अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रकुल बनना चाहिए, जिसका आधार राष्ट्रवाद न हो। चाहे व्यक्तियों में हो या देशों में, स्वार्थपरता एक पाप है।

मानवीय गरिमा के लिए राजनीतिक शोषण से स्वतन्त्रता आवश्यक है, स्वतन्त्रता यह माँग करती है कि उसे बाँटा जाए। जो भी देश या व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा हो, उसे चाहिए कि वह इसको और फैलने दे। स्वतन्त्रता एक आध्यात्मिक गुण है। यह सभी सीमाओं और सभी बन्धनों को जीत लेती है। स्वतन्त्रता अपने व्यवहार में सार्वभौमिक होती है। राष्ट्रवाद ने एक समय, यूरोप में लोगों को एकता दी थी। राष्ट्रवाद का प्रमुख आधार लोगों की यह इच्छा है कि वे एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता वाले राज्य के सदस्य बनें। जो लोग दूसरे देशों पर प्रभुत्व स्थापित करते हैं वे अपने आचरण के लिए हज़ार बहाने ढूँढ़ निकालते हैं। वे शासित लोगों के प्रति वैमनस्य और असहनशीलता के सिद्धांत का बखान करते हैं। वे एक बेहद छुआछूत वाले रोग को साथ लेकर चलते हैं जो भले लोगों को मार देता है। घृणा के ये व्यापारी अपने ऊपर 'मैं ही सही हूँ' का लबादा ओढ़ लेते हैं। वे लोगों के अज्ञान, आग्रह और मतावलम्बन का लाभ उठाते हैं और वे जिन आदर्शों को मानते हैं, उन्हें नष्ट कर देते हैं। उपनिवेशवाद के समाप्त होने की प्रक्रियाएँ धीमी हो सकती हैं, लेकिन वे दृढता से लोगों की राजनीतिक दासता को पलट रही हैं। उपनिवेशी प्रभुत्व से शासित लोगों को यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य और जातीय झगड़ों की समाप्ति देने की बात कही जाती है, लेकिन बदले में उन्हें अपमान मिलता है।

जातीय उत्पीड़न अलोकतांत्रिक है। जाति केवल एक ही है और वह है मानव-जाति। यह राजनीति और राष्ट्रीयता के मानदण्डों के परे है। श्रेष्ठ व्यक्ति भी जातीय दुर्गुण को राष्ट्रीय हित के बाद स्थान देते हैं।

अब्राहम लिंकन ने कहा था, "इस संघर्ष में मेरा प्रमुख उद्देश्य संघ की सेवा करना है, दास-प्रथा की रक्षा करना या उसे नष्ट करना नहीं है। अगर मैं बिना किसी दास को स्वतन्त्र किए संघ की रक्षा कर सकूँ, तो वही करूँगा; और अगर मैं इसकी रक्षा सब दासों को स्वतन्त्र करके कर सकूँ तो वैसा ही करूँगा; और अगर मैं इसकी रक्षा कुछ को मुक्त करके और बाक़ी को उनके हाल पर छोड़कर कर सकूँ तो भी मैं वैसा ही करूँगा। मैं दास-प्रथा के बारे में और रंगीन जाति के बारे में जो कुछ करता हूँ, इसीलिए करता हूँ क्योंकि मुझे विश्वास है कि वैसा करने से संघ की

रक्षा होती है; और जो कुछ मैं नहीं करता, इसीलिए नहीं करता क्योंकि मैं सोचता हूँ कि वैसा करना संघ की रक्षा करने में सहायता नहीं होगी। यहाँ पर मैंने अपने सरकारी कर्त्तव्य के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए अपना उद्देश्य बताया है, और मैं प्रायः व्यक्त की गई अपनी इस इच्छा में कोई संशोधन नहीं कर रहा कि सब जगह सभी मनुष्यों को स्वतन्त्र करना चाहिए।" लोकतांत्रिक संविधानों में सिविल अधिकारों का वचन मिलता है। वे एक संगठित समाज के अस्तित्व को अर्थ देते हैं जो जन-व्यवस्था क़ायम रखता है, जिसके बिना स्वतन्त्रता स्वयं खुली छूट की ज़्यादतियों में खो जाएगी। प्रत्येक लोकतन्त्र को जाति-भेद के विरुद्ध लड़ाई लड़नी चाहिए। राष्ट्रवाद ने अपना प्रभाव खो दिया है। यूरोप के लोग यूरोपियनों के रूप में अनुभव करना और सोचना चाहते हैं। यूरोप में और विश्व के दूसरे भागों में बहुत-से लोग एक सार्वभौमिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहने की आशा करते हैं जिसे कोई सिद्धान्तशास्त्री नहीं देख पा रहा। विश्व की आधी से ज़्यादा जनसंख्या भूख, अपर्याप्त भोजन और रोग की मारी है। ऐसा विश्व, जहाँ ऐसी चीज़ें घटित होने दी जाती हैं, इच्छित पागलपन का संसार कहा जाएगा। तथ्यों को आँकने के लिए हमारे पास बुद्धि है, लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। प्रत्येक भाग को उपजाऊ बनाया जा सकता है, बसाया जा सकता है, प्रत्येक रोग को दूर किया जा सकता है और हर अभाव को दूर किया जा सकता है। ये प्रयत्न खाद्य और कृषि-संगठन और विश्व-स्वास्थ्य-संगठन द्वारा किए जा रहे हैं।

हम अस्त्रों पर जितना खर्च करते हैं अगर उसका एक हिस्सा भी सामाजिक-कल्याण के लिए दे दिया जाए तो हम प्रत्येक आदमी, स्त्री और बच्चे को कपड़े पहना सकेंगे और इन सबके लिए विद्यालयों का निर्माण भी कर सकेंगे। हम सामान्य स्वास्थ्य में, आवास, पोषण, संस्कृति और सामाजिक कल्याण के दूसरे अंगों में वृद्धि कर सकेंगे। ये राष्ट्रों के बीच से भय, घृणा और हठधर्मिता को मिटाने में सहायक हो सकेंगे। हम नीतिशास्त्रीय प्रबोधन, आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, कलात्मक सम्भावनाओं के विकास को बढ़ावा दे सकेंगे। तब हम गहरे विवेक के साथ जिएँगे, अन्धी भावना या आदिम प्रवृत्तियों के सहारे नहीं।

अगर साम्यवाद ने लाखों लोगों का विश्वास प्राप्त कर लिया है, तो इसका कारण यह नहीं है कि वे मार्क्स के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, बल्कि इसलिए कि वह अपने लाखों अनुयायियों को आशा बँधाता है कि वह प्रतिक्रियावादी सरकारों को उखाड़ फेंकेगा और जातीय, आर्थिक और राजनीतिक शोषण को समाप्त कर देगा। यह साधारण जनों की आर्थिक प्रगति के लिए, समान आर्थिक सुविधाओं के लिए, आग्रह करता है। यह धनी देशों और ग़रीब देशों के बीच के

भेद को मिटाने का प्रयत्न करता है। यह साधनों के संगत बँटवारे का और **विश्व-भाईचारे** की स्थापना का वचन देता है। जिनकी सुविधाओं और ओहदों पर आँच आ रही है, वे अपने को अलग करना चाहते हैं, भीतर-ही-भीतर दूसरे राज्य में चले जाना चाहते हैं, जहाँ उन्हें सुरक्षा प्राप्त होती है। साम्यवाद के फैलाव के कारण पूंजीवाद ने अपने में संशोधन कर लिया है, और जिसे पूंजीवाद का अवश्यम्भावी पतन कहा गया था, वह घटित नहीं हुआ। ढाँचे में बहुत बड़ा संशोधन साम्यवादी सिद्धान्त की प्रेरणा या मज़दूर संघ की भावना से हुआ। मध्यमवर्ग, सर्वहारा में जाकर नहीं मिले, लेकिन सर्वहारा वर्ग मध्यमवर्ग की हैसियत वाला बन गया। राजकीय योजना और प्रारम्भिक कल्याण के लिए सरकार के उत्तरदायित्व की बात सामान्यतः स्वीकार की गई। टेक्नालॉजी ने मज़दूरों को और ग़रीब नहीं बनाया, बल्कि और समृद्ध कर दिया।

: ६ :

कल्पनाशील मनुष्य अपने से जो कुछ भिन्न होता है, उसकी प्रशंसा करते हैं। होमर और शेक्सपियर, सेंट पॉल और फ्रांसिस हमारे उतने ही अपने हैं, जितने कि कालिदास और वाल्मीकि। हम **सब समयों** के उत्तराधिकारी हैं और इस उत्तराधिकार में सभी राष्ट्रों की साझेदारी है।

बौद्धिक रूप से प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति, अपनी भावनाओं की कटुता और अन्याय में, साधारणजनों से नीतिशास्त्रीय रूप में श्रेष्ठ नहीं होते। व्यक्ति रूप में विशिष्ट होते हैं, लेकिन दलों के सदस्य के रूप में वे उतने ही बुरे होते हैं, जितने कि दूसरे।

यहाँ तक कि बौद्धिक भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करके कि सत्य सांख्यिकी प्रेक्षणों या प्रयोग-सिद्ध प्रयोगों द्वारा मिलता है, आचार-भ्रष्ट हो रहे हैं। जीवन में अर्थ ढूंढ़ने या व्यवहार में उद्देश्य ढूँढ़ने की बात को रोमांटिक भावावेग कहकर खारिज किया जा रहा है। वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्यों में एक चेतना होती है, मूल्य होते हैं, कल्पनाशीलता होती है, जिसके माध्यम से वे कला और साहित्य की रचना करते हैं। अगर हम सहयोग करना चाहते हैं, तो हमें एक-दूसरे के बारे में, एक-दूसरे की कला और इतिहास के बारे में जाना पड़ेगा। यूनेस्को का क्षेत्र व्यापक है। कलाकारों, चिन्तकों और वैज्ञानिकों को, जिनका काम असंख्य लोगों को प्रभावित करना है, एक-दूसरे को जानना चाहिए, एक-दूसरे को समझना चाहिए, एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करना चाहिए और सौन्दर्य, सत्य और मानवीय भाईचारे के प्रजातन्त्र की नींव रखनी चाहिए। हमें केवल अपने राष्ट्रीय

लक्ष्यों के लिए ही काम नहीं करना चाहिए, भले ही वे कितने ही सही या विवेक-सम्मत हों, बल्कि आध्यात्मिक जीवन के उस **भीतरी समुदाय** के जादू से, जो कठिनाइयों के बावजूद, हमारे सामने हमारे भाईचारे को और उच्च लक्ष्य को उद्घाटित करता है, राजनीतिक और आर्थिक संसार के विरोधों को समूल नष्ट करना चाहिए। गेटे ने एखरमान से कहा था, "एक मनुष्य और नागरिक के रूप में कवि अपनी पितृभूमि से प्रेम करेगा, लेकिन उसकी कवि-प्रतिभा और उसके काव्यमय आचरण की पितृभूमि है—अच्छाई, भलाई, सौन्दर्य, जो किसी विशेष व्यक्ति और विशेष भूमि की सम्पत्ति नहीं है। वह जहाँ कहीं भी पाता है इस पर अधिकार कर लेता है और इसे रूप देता है।"[1] गांधी कहते हैं, "मैं भारत के साथ बँधा हूँ, क्योंकि मुझे पूरा विश्वास है कि विश्व के लिए उसके पास एक संदेश है···मेरे धर्म की कोई भौगोलिक सीमाएँ नहीं हैं। मेरी इसमें एक जीवन्त आस्था है, जो कि **स्वयं** भारत के प्रति मेरे प्रेम का भी अतिक्रमण कर सकती है।" "मैं अपने घर और उसकी खिड़कियों को चारों ओर से बन्द नहीं कर लेना चाहता। मैं चाहता हूँ कि सभी देशों की संस्कृति मेरे घर में जितनी स्वतन्त्रता से सम्भव हो, प्रवेश कर सके···लेकिन मैं इनमें से किसी के भी द्वारा हिल जाने से अस्वीकार करता हूँ···मेरा धर्म, बन्दीगृह का धर्म नहीं है। इसमें ईश्वर की छोटी-से-छोटी कृति के लिए स्थान है। लेकिन इसमें जाति, धर्म या रंग के उद्धृत अहं के लिए कोई स्थान नहीं है।"

: ७ :

लोकतांत्रिक मार्ग में सतत प्रगति हुई है जोकि अहिंसा का मार्ग है। कभी हम नरभक्षी थे, फिर हम बंजारा शिकारी बने और बाद में कृषि को अपना लिया। ये सभी बढ़ती हुई अहिंसा और कम होती हुई हिंसा के चिह्न हैं।

महान् शक्तियाँ तनावों को ढीला करने के लिए काम कर रही हैं। इनमें लोकतांत्रिक और साम्यवादी, दोनों तरह के देशों में अधिक उन्मुक्त जीवन के लिए दबाव, अणु-युद्ध में एक-दूसरे से समाप्त हो जाने का भय, बड़े देशों में सभ्य नेतृत्व सम्मिलित हैं। राजनीतिक समाज की पूरी दिशा स्वतन्त्रता की ओर, व्यक्ति की और राजनीतिक लोकतन्त्र की गरिमा की ओर है। यहाँ तक कि एकदलीय ढाँचे वाले समाज भी लगातार एक खुले समाज की ओर बढ़ रहे हैं। कोई भी कट्टरपंथी धारणा बराबर के लिए मानव-मस्तिष्क को बन्द नहीं कर सकती। साम्यवादी समाज क्रमशः लोकतांत्रिक हो रहा है। सोवियत संघ विकास की अवस्थाओं से

1. P. 91.

गुजर चुका है। यह सह-अस्तित्व में सहयोग करने की क्षमता रखता है। हालांकि साम्यवादी राज्य क्रान्तिकारी स्थितियों का लाभ बल-प्रयोग से उठाते हैं, लेकिन वे पूरी तरह केवल बल-प्रयोग पर भरोसा नहीं करते। यहाँ तक कि यह भी समाप्त हो सकता है। लोकप्रिय माँगों को पूरा करने के लिए कई राज्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता है। साम्यवाद का अर्थ आधुनिकीकरण और एक उच्च-स्तरीय न्याय है। १९३६ का स्टालिन का संविधान मानव-अधिकारों के स्वीकार्य की दिशा में एक स्पष्ट संकेत है। १९४३ में धर्म को उखाड़ फेंकने में कठिनाई का अनुभव करके सोवियत संघ ने मास्को के प्रधान पादरी के चुनाव की इजाज़त दे दी। स्टालिन ने घोषणा की कि पार्टी, "रूसी लोगों को उनके चर्च और उनके पूजा के अधिकारों से और अधिक वंचित नहीं रख सकती।"[1] पश्चिमी शक्तियों के साथ राजदूत-सम्बन्ध बनाये गए, संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ १९३३ में। १९४५ में सोवियत संघ, संयुक्त-राष्ट्र का संस्थापक सदस्य था। अगर युद्ध का अर्थ संवाद या बातचीत का टूटना है तो बातचीत जारी रखने का अर्थ बातचीत के, समझौते के, भाईचारे और नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों के पूर्वप्रस्तावों को स्वीकार करना है। संवाद या बातचीत का अर्थ है एक-दूसरे को समझना।

कुछ साल पहले रूमानिया ने प्रत्येक राज्य के अपने हितों और इच्छाओं के अनुसार समाजवाद का निर्माण करने के अधिकार का निश्चय प्रकट किया था। वह वारसा-संधि की, और सोवियत संघ के नेतृत्व में, अल्बानिया-सहित छह पूर्व-यूरोपीय देशों के सैन्य-संगठन के आगे प्रश्न-चिह्न लगा रहा है। फ्रांसीसी और रूमानिया के लोगों, दोनों का ही यह विश्वास है कि जब ये दोनों सन्धियाँ हुई थीं, तब से समय बहुत बदल चुका है—नाटो की सन्धि १९४९ और वारसा की सन्धि १९५५ में हुई थी। प्रत्येक देश अपनी सेनाओं का नियन्त्रण अपने हाथ में रखना चाहता है। इस साल (१९६६) की ७ मई को रूमानिया के नेता निकोलाई सिआसेक्यू ने कहा कि सन्धियाँ, "लोगों की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय प्रभुसत्ता तथा राज्यों के बीच सामान्य सम्बन्धों को देखते हुए काल-गणना-क्रम की असंगतियाँ हैं।" रूमानिया, स्लाव-संगठन में एक लातीनी देश, के लोग राष्ट्रपति द गाल के दृष्टिकोण से सहमत हैं कि "यूरोप, अतलांतिक से **उराल** तक के देशों से बनता है।"

अठारह वर्ष पहले, युगोस्लाविया ने सोवियत प्रभुत्व का विरोध किया था। मार्शल टीटो युगोस्लाविया को, पार्टी नौकरशाही, जिसकी दृष्टि संकीर्ण है,

---

१. 'युद्ध, साम्यवाद व विश्व के धर्म' (१९५३) सी० एस० ब्रैडेन, पृष्ठ २६०। मास्को में आज युवक व युवतियों को ऐसी ज़ंजीरें पहने देखा जा सकता है जिनसे सलीब बँधा होता है।

से स्वतन्त्र करना चाहते हैं और सरकार के कामों और उत्पादन में नई शक्तियाँ और नई प्रतिभाएँ भरना चाहते हैं। वे ऐसे क्षमतावान् व्यक्तियों का क्रियाशील सहयोग लेना चाहते हैं, जिनका पार्टी-सिद्धान्त या उसके दाव-पेंच के लिए कोई उपयोग नहीं है। युगोस्लावियाई समाज नये आदर्शों और प्रभावों के लिए प्रस्तुत हो रहा है। युगोस्लाविया और वैटिकन के बीच एक समझौता हुआ है और दोनों राजदूतों का आदान-प्रदान कर रहे हैं।

सोवियत संघ और पूर्व-यूरोपीय राज्य अधिक राष्ट्रीय और लोकतांत्रिक हो रहे हैं। चीन एक नई छलाँग की तैयारी कर रहा है। इण्डोनेशिया कानून का शासन और लोकतांत्रिक सरकार पाने का प्रयत्न कर रहा है।

१९१७ में पूँजीवाद या साम्यवाद का जो रूप था, अब वैसा नहीं रहा। उनमें हो रहे परिवर्तन आवश्यक और केन्द्राभिमुख हैं। साम्यवादी राष्ट्र सत्ता-हस्तान्तरण का सही तरीका तैयार करने का प्रयत्न कर रहे हैं, एक नेता से दूसरे नेता को सत्ता सौंपने का लोकतांत्रिक तरीका। जब श्री ख़ुश्चेव पार्टी प्रिसीडियम में हार गए तो उन्होंने १९५७ में सफलतापूर्वक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी से अपील की। १९६४ में उन्हें अवकाश ग्रहण कर लेना पड़ा।

युद्ध के बाद हम यूनान और टर्की, ईरान और बर्लिन, कांगो और क्यूबा के किनारों तक बढ़े। हम फिर आगे बढ़े। अणु-अस्त्र परीक्षा-बन्दी की सन्धि पर हस्ताक्षर, शान्ति की ओर एक और क़दम है, युद्ध से दूर, विवेक की ओर। दृढ़ता और संयम के संयोग ने विश्व को बचा लिया। यह आशा का चिह्न है कि सोवियत संघ ने राष्ट्र-संघ के सामने अन्तरिक्ष-अभियान के जो प्रस्ताव रखे हैं वे अमेरिका के प्रस्तावों से मिलते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग संसार-भर में स्वीकार किया जाता है। उड्रो विल्सन ने अपने द्वितीय उद्घाटन-भाषण में कहा : "जो सबसे बड़ी चीज़ की जानी बाकी है वह सारे विश्व को एक मंच रूप में लेकर और मानव-जाति की व्यापक और सार्वभौमिक ताक़तों के सहयोग से की जानी चाहिए।"

हमें यह अहसास है कि हम एक दुःखद युग में रह रहे हैं। हम स्पष्टता और सन्देह को लक्ष्य बनाते हैं, लेकिन अपने दृष्टिकोणों को तीव्र भावावेग और अति-रंजित बोध से पकड़े रहते हैं। एक सच्चा धार्मिक आदमी अपने जीवन और कार्य से प्रेम और सहिष्णुता के बीज बोता है।

अतार्किकता को दबाना और अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन स्थिर करना हमारा कर्त्तव्य है। हम उस युग की ओर अभी बढ़ रहे हैं, प्रयत्न कर रहे हैं, विश्वासपूर्वक देख रहे हैं जब मनुष्य का जन्म एक शून्य में नहीं होगा। महानता का सेहरा आज

उनके सिर पर नहीं बँधता जो युद्ध छेड़ते हैं, बल्कि उनके सिर पर बँधता है जो युद्ध को रोकते हैं। हमें भय, मिथ और आग्रह से स्वतन्त्र संसार में जागना पड़ेगा। द्वितीय विश्व-युद्ध के तुरन्त बाद ही पूर्व-यूरोपीय राज्य सोवियत संघ के प्रभाव में आ गए। सबने, जिसे जनता का लोकतन्त्र कहा जाता है, अपनाया, एकदलीय पद्धति अपनाई और सर्वहारा की विजय के लिए नागरिक अधिकारों का त्याग कर दिया। उनकी स्वतन्त्रता के द्वेष में पश्चिमी यूरोप के देशों ने अमेरिका की सहायता माँगी। इनमें उनकी स्वाधीनता सापेक्षिक ह्रास था। अमेरिका के प्रति सम्बन्धों की पराधीनता को अपमानजनक अनुभव किया गया और इंग्लैण्ड, फ्रांस जैसी भूतपूर्व बड़ी शक्तियों ने और यहाँ तक कि छोटी शक्तियों ने भी, जिनका अतीत सुनहरी स्मृतियों से भरा है, इसका विरोध किया। जब भी खतरा बढ़ा और सोवियत संघ ने शीत-युद्ध को तेज़ कर दिया, अमेरिका का नेतृ-वर्ग भी वैसा ही करता गया। बर्लिन की नाकेबन्दी की परिणति अतलांतिक सन्धि में हुई। नाटो की एकता और जर्मन पुनर्शस्त्रीकरण की जड़ें कोरियाई युद्ध में ढूँढी जा सकती हैं। शीत-युद्ध की शुरुआत सोवियत संघ के प्रभुत्व और अमेरिका के नेतृत्व के बीच हुई।

: ८ :

द्वितीय विश्व-युद्ध के ठीक बाद १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में उसने तटस्थता की नीति अपनाई। सैन्य-लक्ष्य भारत के लिए बहुत-कुछ अजनबी है। हम स्वतन्त्रता और न्याय के सिद्धान्तों के प्रति प्रतिबद्ध हैं। शान्ति की खोज, पराधीन लोगों की मुक्ति, जातीय भेद की समाप्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग ही भारत के लक्ष्य रहे हैं। जाल में फँसानेवाले गठबन्धन की कोई भी नीति, स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद भारत की एकता के लिए खतरा उत्पन्न कर सकती थी और हमने जो बहुत सीमित आर्थिक प्रगति की है, वह असम्भव हो जाती।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की यह नीति भारतीय प्रतिभा की भावना के अनुरूप है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥[1]

"क्योंकि हे अर्जुन ! जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ, इस रहस्य को जानकर ही बुद्धिमान मनुष्यगण सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार बरतते हैं।"

---

१. भगवद्गीता, अध्याय ४।

हालांकि आस्थाएँ और व्यवहार भिन्न होते हैं, लेकिन आध्यात्मिक परिपूर्णता का लक्ष्य एक ही होता है।

जो लोग **धर्म** को दूसरे देशों में ले जाने वाले थे, अशोक उन्हें अपने एक स्तम्भ में निर्देश देता है :

"याद रखो कि तुम प्रत्येक जगह आस्था की कुछ जड़ें और विचार-सत्यता पाओगे, ध्यान रहे कि तुम इन्हें प्रोत्साहित करो, नष्ट नहीं।" उसने परम सत्य और उचित आचरण का प्रयत्न करते हुए, समूचे विश्व की विचार-एकता का सपना देखा था। यह जातियों के वैभिन्न्य को जोड़ने का मार्ग है। उसका बारहवाँ प्रस्तर-स्तम्भ इस भावना की अभिव्यक्ति है :

"राजा प्रियदर्शी सभी आस्थाओं के लोगों का, फिर चाहे ये धर्माधिकारी हों या साधारण जन, उपहारों और प्रशस्तियों से सम्मान करते हैं। फिर भी वे उपहारों या प्रशस्तियों को उतना मूल्यवान नहीं समझते जितना कि सभी आस्थाओं के मनुष्यों में धर्म के आधारभूत, मौलिक गुणों के विकास को।

"इस विकास के कई रूप हो सकते हैं, लेकिन इसकी जड़ें अपनी आस्था की प्रशंसा से बचने और अनुचित ढंग से दूसरे की आस्था की निन्दा करने, या जब उचित अवसर हो, तब अशोभनीय होकर निन्दा करने से अपनी वाणी पर नियंत्रण रखने में है।

"सभी दूसरों की आस्थाएँ इस या उस कारण के सम्माननीय होती हैं। उनका सम्मान करके व्यक्ति अपनी आस्था को ऊँचे उठाता है और साथ ही दूसरों की आस्थाओं की सेवा करता है। विपरीत आचरण से आदमी अपनी ही आस्था को चोट पहुँचाता है और दूसरों की आस्था का भी नुकसान करता है। क्योंकि अगर एक आदमी भक्ति-भाव के कारण या महिमा बखान करने के कारण अपनी आस्था की प्रशंसा और दूसरे की आस्था की निन्दा करता है, तो वह ऐसा करके अपनी ही आस्था को गम्भीर चोट पहुँचाता है।

"इसलिए केवल सुमेल ही प्रशंसा के योग्य है[1], क्योंकि सुमेल द्वारा ही मनुष्य, दूसरों द्वारा स्वीकृत **धर्म** की अवधारणा को सीख सकते हैं और उसका सम्मान कर सकते हैं।"

इस भावना ने इस्लाम को भी प्रभावित किया। अबुल फ़ज़ल अकबर की सार्वभौमिक आस्था की भावना का वर्णन इन शब्दों में करता है :

"ओ ईश्वर, मैं प्रत्येक मन्दिर में तुम्हें ही खोजने वाले लोगों को देखता हूँ, और प्रत्येक भाषा में, मैं लोगों को तुम्हारी प्रशंसा करते हुए ही सुनता हूँ।

१. समवाय एव साधुः।

पॉलीथीज्म और इस्लाम तुम्हारा ही अनुभव करते हैं। प्रत्येक धर्म कहता है, "तुम एक हो, तुम्हारे समान कोई नहीं है।" अगर एक मस्जिद है तो लोग उसमें नमाज़ पढ़ते हैं और अगर एक चर्च है तो उसमें तुम्हारे प्रेम में लोग घंटियाँ बजाते हैं। कभी मैं ईसाई गिरजे में जाता हूँ और कभी मस्जिद में। लेकिन वह तुम्हीं हो जिसे मैं मन्दिर-मन्दिर में ढूँढ़ता हूँ। तुम्हारे बन्दों को नास्तिकता या आस्तिकता से कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि इनमें से कोई भी तुम्हारे सत्य के परदे के पीछे नहीं है। नास्तिकता नास्तिक को मुबारक हो और आस्तिकता धर्म को। लेकिन गुलाब की पंखड़ी का चूरा, गंधी के हृदय का होता है।[1]

राममोहनराय ने सन् १८३० में ब्रह्मसमाज की स्थापना की और इसके न्यास दस्तावेज़ में कहा गया है :

"सभी तरह के और सभी वर्णों के लोगों का एक मिलन-स्थल, जहाँ वे बिना किसी भेद-भाव के मिल सकें, और सनातन, अज्ञेय और अपरिवर्तनशील की उपासना के लिए, व्यवस्थित, सौम्य, धार्मिक और सर्मपित व्यवहार व आचरण कर सकें, जोकि विश्व का रचयिता है, लेकिन जो किसी आदमी या मनुष्यों के समूह द्वारा किसी विशेष नाम, संज्ञा या पद से कहीं भी, अभिहित नहीं किया जाता हो।"

यह भावना इस दृष्टिकोण के विरुद्ध है कि केवल एक धर्म ही मान्य होता है :

"मैं स्वामी हूँ तुम्हारा ईश्वर···मेरे रहते हुए तुम्हारे कोई दूसरे ईश्वर नहीं होने चाहिए। तुम्हें कोई मूर्ति उत्कीर्ण नहीं करनी चाहिए, या ऊपर स्वर्ग की किसी चीज़, या नीचे धरती की किसी चीज़ या उसके नीचे पानी की किसी चीज़ को पसन्द नहीं करना चाहिए : तुम्हें उनके सामने झुकना नहीं चाहिए, न ही उनकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि मैं स्वामी, तुम्हारा ईश्वर, ईर्ष्यालु ईश्वर हूँ और पिताओं के दुराचार का बदला चार पीढ़ियों तक लेता हूँ, उनसे जो मुझसे घृणा करते हैं।[2]

तटस्थता का अर्थ प्रतिबद्ध होना नहीं है। यह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, शान्ति और निरस्त्रीकरण के प्रति क्रियाशील प्रतिबद्धता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में व्यवहार की स्वतन्त्रता देता है। तटस्थता, अकर्मण्य तटस्थता नहीं है। इसे जवाहरलाल नेहरू ने तब बिलकुल स्पष्ट कर दिया, जब उन्होंने १७ अक्तूबर, १९४९ को कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क में कहा कि "जब मनुष्य की स्वतंत्रता या शान्ति खतरे में हो तब हम हाथ-पर-हाथ धरे बैठे नहीं रह सकते,

---

१. ब्लाख़मान : 'आईने-अकबरी', पृष्ठ ३०।
२. एक्सोडस—XX. २।

और न ही हमें बैठे रहना चाहिए, तब हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना, उस सबके प्रति विश्वासघात होगा, जिसके लिए हम लड़े हैं और जिसका हमने समर्थन किया है।"

हम इस थीसिस को स्वीकार नहीं करते कि प्रत्येक देश को यह या वह गुट चुनना पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका का दूसरे लोगों के मामले में न पड़ने का एक लम्बा रिकार्ड है। अमेरिका की विदेश-नीति डेढ़ सौ साल तक राष्ट्रपति वाशिंगटन के विदाई-भाषण के प्रभुत्व में रही है। उन्होंने कहा था :

"जो देश दूसरे के प्रति एक घृणा या प्यार पाल लेता है, वह किसी मात्रा में दास हो जाता है। वह अपनी शत्रुता या स्नेह का दास हो जाता है, जिनमें से कोई भी उसे अपने कर्त्तव्य और हित से भटका देने के लिए काफ़ी है।

"यूरोप के अपने कुछ मूल हित हैं, जिनका हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, है भी तो बहुत दूर का। इसीलिए वह प्रायः ऐसे विवादों में पड़ा रहेगा, जिनके कारण मूल रूप से हमारे लिए अजनबी रहेंगे। इस तरह झूठे बन्धनों द्वारा उसकी राजनीति के साधारण उलट-फेर या उसकी साधारण मित्रताओं और शत्रुताओं में पड़ना हमारे लिए बुद्धिमानी का काम नहीं होगा। हमारी अलग और दूर की परि-स्थिति हमें एक भिन्न दिशा लेने को कहती है और उसके लिए क्षमता देती है···। यूरोप के किसी भी हिस्से के साथ अपनी नियति बाँधकर अपनी शान्ति और समृद्धि को हम यूरोपीय आकांक्षा, प्रतिद्वंद्विता, हित, हास्य या चपलता में क्यों झोंक दें? हमारी यह सच्ची नीति होगी कि हम विदेशी संसार के किसी भी हिस्से के साथ स्थायी गठबन्धन न करें।"

वाशिंगटन ने अपनी दृढ़ मान्यता व्यक्त की कि "अगर हम एक दक्ष सरकार के अन्तर्गत एक होकर रहें तो वह दिन दूर नहीं है···जब हम शान्ति या युद्ध को अपने हित के अनुसार अपनी न्यायाज्ञा पाकर चुन सकें।" जेफरसन ४ मार्च, १८०१ में दिये गए अपने उद्‌घाटन-भाषण में इसी नीति पर फिर से ज़ोर दे रहा था, जब उसने कहा, "सभी देशों के साथ शान्ति, व्यापार और ईमानदार मित्रता—उलझाने वाले गठबन्धन किसी के साथ नहीं।"

हमने वह नीति अपनाई है जिसे अमेरिका के नेताओं ने इतनी अच्छी तरह रूपायित किया था। एक तटस्थ राष्ट्र अपने विचार प्रकट करने से डरता नहीं है। यह अच्छाई और बुराई के बीच, सही और ग़लत के बीच तटस्थ नहीं रहता। तटस्थता, अपने को सब-कुछ से काट लेने में नहीं है। भारत ने सामूहिक कार्रवाई में कोरिया, हिन्द-चीन, मध्य-पूर्व और कांगो में भाग लिया। तटस्थता अगर हमें प्राधिकार नहीं तो यह अधिकार देती है कि हम दो बड़ी शक्तियों को

प्रभावित कर सकें। तटस्थ देश जो किसी भी सैन्य-गुट—साम्यवादी या साम्यवाद-विरोधी—से प्रतिबद्ध नहीं हैं, गोरे-काले का अति साधारणीकृत रुख अपनाने को तैयार नहीं है। वे विश्व को दो खेमों में नहीं बाँट देना चाहते—भेड़ियों और भेड़ों में। वे दोनों की अच्छाइयों को पहचान रहे हैं और यह स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं कि दोनों पक्षों के पास विवेक और न्याय है। वे यह भी अनुभव करते हैं कि दोनों ढाँचों में भारी परिवर्तन हो रहे हैं। पश्चिमी शक्तियों की प्रकृति अधिक समाजवादी हो रही है और सोवियत संघ अपने दृष्टिकोण में अधिक उदार हो रहा है। इंगलैंड, स्कैंडेनेवियाई देश और यहाँ तक कि अमेरिका भी अब वैसे नहीं रहे, जैसे इस सदी के प्रारम्भ में थे। लेनिन का रूस, स्टालिन का रूस और ख्रुश्चेव का रूस एक-दूसरे से भिन्न हैं। सोवियत संघ, विश्व साम्यवाद के पुराने अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श को छोड़कर एक महान् शक्ति की सरकार के रूप में बदलता गया है। १९५९ में रूसी-अमेरिकी मेल के समय श्री ख्रुश्चेव ने विश्व-साम्यवाद के नेता की अपनी भूमिका को कुछ क्षणों के लिए भूलकर एक रूसी के रूप में बोलते हुए कहा, "अगर केवल रूस और अमेरिका सहमत हो सकते तो विश्व-शान्ति सुरक्षित हो जाती क्योंकि दो बड़ी शक्तियाँ मिलकर कहीं पर किसी भी युद्ध को रोक सकती हैं। इसके अलावा, सोवियत संघ, चीन, पोलैंड और युगोस्लाविया में अलग-अलग प्रकार का साम्यवाद है। साम्यवादी राज्य अपने शासनों में एक नई ही उदारता और एक नए प्रकार के समाजवादी राज्य की स्थापना की ओर बढ़ रहे हैं। हमें उन राजनीतिक विचारों से संघर्ष करना पड़ेगा जो अपने सिद्धान्तों की अवर्णनीयता पर ज़ोर देते हैं और विश्व को ऐसे खेमों में बाँटते हैं जिनमें आपस में समझौता न हो सके। अगर अणु-अस्त्रों और सामूहिक विनाश के दूसरे अस्त्रों द्वारा प्रस्तुत युद्ध के खतरे को दूर करना है तो दोनों पद्धतियों को मिलकर रहना पड़ेगा। अगर निरस्त्रीकरण-सम्बन्धी विचार-विमर्श अब तक जारी है तो इसका कारण यही है कि बड़ी शक्तियाँ अणु-अस्त्र के खतरों के प्रति सजग हैं। हमें राष्ट्रों के बीच आपसी विश्वास को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर हम यह मानते हैं कि युद्ध और शत्रु के हाथों समर्पण ही विकल्प है, तो यह कल्पनाशीलता की असफलता और असहाय होने की अनुभूति के कारण होगा। हम प्रस्तुत खतरे से इतने आतंकित, यहाँ तक कि घबराये हुए हैं कि हमने नये ढंग से सोचने और भिन्न व्यवहार की क्षमता खो दी है।

: ९ :

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति प्रभुसत्तासम्पन्न राज्यों के आत्मानुशासन से उपलब्ध हो सकती है, राज्यों को हटाने या उनके उन्मूलन से नहीं। हम बिना कानून के

शान्ति को नहीं पा सकते और क़ानून को न्याय पर ही आधारित होना चाहिए, शक्ति पर नहीं। केवल न्याय की भावना ही समूची मानव-जाति को एक कर सकती है। धैर्य, आध्यात्मिक ज्ञान के गुणों द्वारा हमें उस समस्या का हल सुझाना चाहिए, जो विश्व-भर के लोगों के सामने है। जातीय और राष्ट्रीय विवादों के बावजूद हमें एक सम्बन्ध बनाना चाहिए, मस्तिष्क और हृदय का एक सामंजस्य स्थापित करना चाहिए, एक ऐसी भावना उत्पन्न करनी चाहिए जो हमें एक-दूसरे के निकट ला सके। हमें समाज में स्वस्थचिन्तन की शक्तियों को मज़बूत करना चाहिए। प्रत्येक सच्चा धार्मिक आदमी, जिसकी प्रकृति मताग्रहों से मुक्त है, इस बात का अनुभव करता है कि सभी प्रार्थनाएँ एक ही परमात्मा से की जाती हैं। हमें नए मनुष्य रचने हैं जो हमें विनाश से बचाएँगे और एक नयी मानवता का निर्माण करेंगे। यह अवश्यम्भावी है कि एकता की एक नयी भावना समूची मानव-जाति में व्याप्त हो जाएगी। युद्ध और क्रान्तियाँ विलम्बित हो सकती हैं, लेकिन अन्तिम एकीकरण स्पष्ट है। राष्ट्रों को उन घेरों को तोड़ने की दिशा में क्रमशः बढ़ना चाहिए जो उन्हें अलग करते हैं और एक-दूसरे के खरेपन को प्रत्येक कदम पर जांचना चाहिए जिससे कि समय पर आपसी विश्वास क़ायम हो सके।

विश्व-सरकार की स्थापना बहुत दूर हो सकती है, लेकिन हमें राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की धार को कुंठित करने की दिशा में लगातार अधिक और अधिक प्रयत्न करने चाहिए। सत्य और न्याय का शासन स्थापित करने में राष्ट्रों को एक-दूसरे के साथ शांतिपूर्वक प्रतिद्वंद्विता करनी चाहिए। इसके लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। हमें दैवी की धारणा को सभी वस्तु-गुणों और मनुष्य-रूपी गुणों से मुक्त करना चाहिए। दैवी के साथ अपनी सम्भावना-भरी अभिन्नता के प्रति आदमी सजग हो जाता है। हिन्दू दर्शन मनुष्य की दैवी प्रकृति के महत्त्व पर ज़ोर देता है—तत् त्वम असी—वह तुम हो। बोधिसत्व, प्रबोधन की प्रकृति सबमें है। जेरेमीया के अन्तिम शब्दों का भाव है, "मैं उनके भीतरी अंगों में अपना क़ानून रख दूंगा, और इसे उनके हृदयों पर लिखूंगा; उनका ईश्वर बनूंगा और वे मेरी प्रजा होंगे।[1] ईसाइयत जो कहती है, "रुको, मैं सब-कुछ नया करती हूँ," पवित्र आत्मा की अवधारता का उपयोग 'सत्य-भावना', 'साक्षी की वाहक' और 'पिता के आश्वासन' के रूप में करती है। "ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है।"[2] "सत्य तुम्हें मुक्त करेगा।"[3]

१. जेरेमीया XXXI, ३१-३३।
२. सेंट ल्यूक XVII, २१।
३. सेंट जॉन VIII, ३२।

"सच्चा प्रकाश जो विश्व में आनेवाले प्रत्येक मनुष्य को प्रकाश देता है।"[1] "ईश्वर एक भावना है, और जो उसकी पूजा करते हैं, उन्हें उसकी पूजा-भावना और सत्य के साथ करती चाहिए।"[2] ईसाई धर्मशास्त्र में चेतना-रूपी ईश्वर पर ज़ोर दिया जाता है। यही शांति के प्रयत्नों, नागरिक अधिकारों और सामाजिक न्याय की सभी आस्थाओं के मनुष्यों के संघर्ष में अपने को अभिव्यक्त करती है।

मनुष्य में ईश्वर का ज्ञान तभी सम्भव है जब वह बाहरी अनुभव के संसार से अपनी इन्द्रियों और मस्तिष्क को हटा ले और भीतरी यथार्थ पर इन शक्तियों को केन्द्रित करे। मनुष्य अपनी यथार्थ प्रकृति को आंतरिक पैठ द्वारा ही जानता है। जब व्यक्ति आत्मन् का ज्ञान पा लेता है, वह प्रबुद्ध हो जाता है, हृदय के बन्धन टूट जाते हैं, और उसकी परिमितता पीछे रह जाती है।

धर्म का अनुशासन यह है कि वह इस सम्भावना को यथार्थ-रूप दे। दैवी के साथ अभिन्नता का यह अनुभव इतिहास की बात नहीं है, बल्कि व्यक्ति का निजी अनुभव है। अपने अस्तित्व के केन्द्र में हमारा एक ऐसे संसार से सामना होता है जहाँ सारी वस्तुएँ शांत होती हैं और जो वैभिन्न्य हमें विभाजित करते हैं वे महत्त्वहीन हो जाते हैं। यह अनुभव मनुष्य अपने आंतरिक जीवन से प्राप्त करता है। मनुष्य को प्रत्येक दिन, कुछ क्षण अपने **श्रेष्ठांश** के लिए देने पड़ते हैं। हमें आत्म-भ्रम वाली आत्मा को शुद्ध करना होगा। जब तक व्यक्ति अपनी चेतना के तत्त्वों को उद्घाटित नहीं करता और इच्छापूर्वक प्रयत्न करके, दैवी के साथ अपने को मिलाकर दृढतापूर्वक यह नहीं कहता, "मैं और मेरे पिता एक ही हैं।" तब तक दैवी उससे परे है, 'बिलकुल दूसरा' है।

हमारे कार्य-व्यापार में अविवेक का प्रभाव इतना स्पष्ट रहता है कि मस्तिष्क अपने-आपमें **भयावह** हो जाता है। "रोष क्रूर होता है और क्रोध अत्याचारी।"[3] टामस जैफरसन का बुद्धिमत्तापूर्ण विचार था, "जब क्रोध में हो तो बोलने से पहले दस तक गिनो और जब बहुत क्रोध में हो तो सौ तक।" हमें अपने ग़ुस्से को कठोर शब्दों और दोषारोपों में फूटने से पहले ही नियंत्रित कर लेना चाहिए, उसके पहले ही जब हमारी उत्तेजित भावनाएँ हमारे लिए बुद्धिमानीपूर्वक जाँचने को असम्भव बना दें। हमें भाईचारे द्वारा आत्म-नियंत्रण को विकसित करना चाहिए जो हमें मस्तिष्क की ऐसी शांत स्थिति देता है जिसे डिगा पाना कठिन होता है। अगर हम आदमी को उसी रूप में लेंगे जिस रूप में कि वह है, तो

---

१. सेंट जॉन १, ९।
२. वही IV, २४।
३. प्रावर्ब २७/४।

हम निराशाजनक स्थिति में होंगे; अगर हम उसे उस रूप में लेंगे जैसा कि उसे बनना चाहिए, तो हम वैसा बनने में उसकी सहायता करेंगे। आदमी की अपने बारे में समझ उसे एक अनुशासित विरक्ति के जीवन और सबके प्रति प्रेम की ओर ले जाती है। आदमी का भाईचारा एक वर्तमान सम्भावना है। जोड़ने, साझा करने, सेवा और त्याग करने की नयी प्रवृत्ति के साथ वाले नये मनुष्य बनने सम्भव हैं। अगर मनुष्य जाति को बढ़ती जनसंख्या के दबाव से छुटकारा मिल जाता है, अगर युद्धों में किए जानेवाले अपव्यय से बचा जाता है, अगर समुदाय द्वारा साधनों के स्रोत संगठित किए जाते हैं, तो लोग स्वतन्त्र और अभियान-प्रिय हो जाएँगे और वे एकरस और आलस्य-भरा जीवन नहीं बिताएँगे।

हमें आदमी पर और उसके भविष्य पर विश्वास रखना पड़ेगा। विश्व-समुदाय का आदर्श जो हमारा स्पष्ट लक्ष्य और कर्त्तव्य है, वह एक साथ ही रचनात्मक प्रयत्न के लिए निमंत्रण और सहकारी कर्म के लिए पुकार है।

• • •